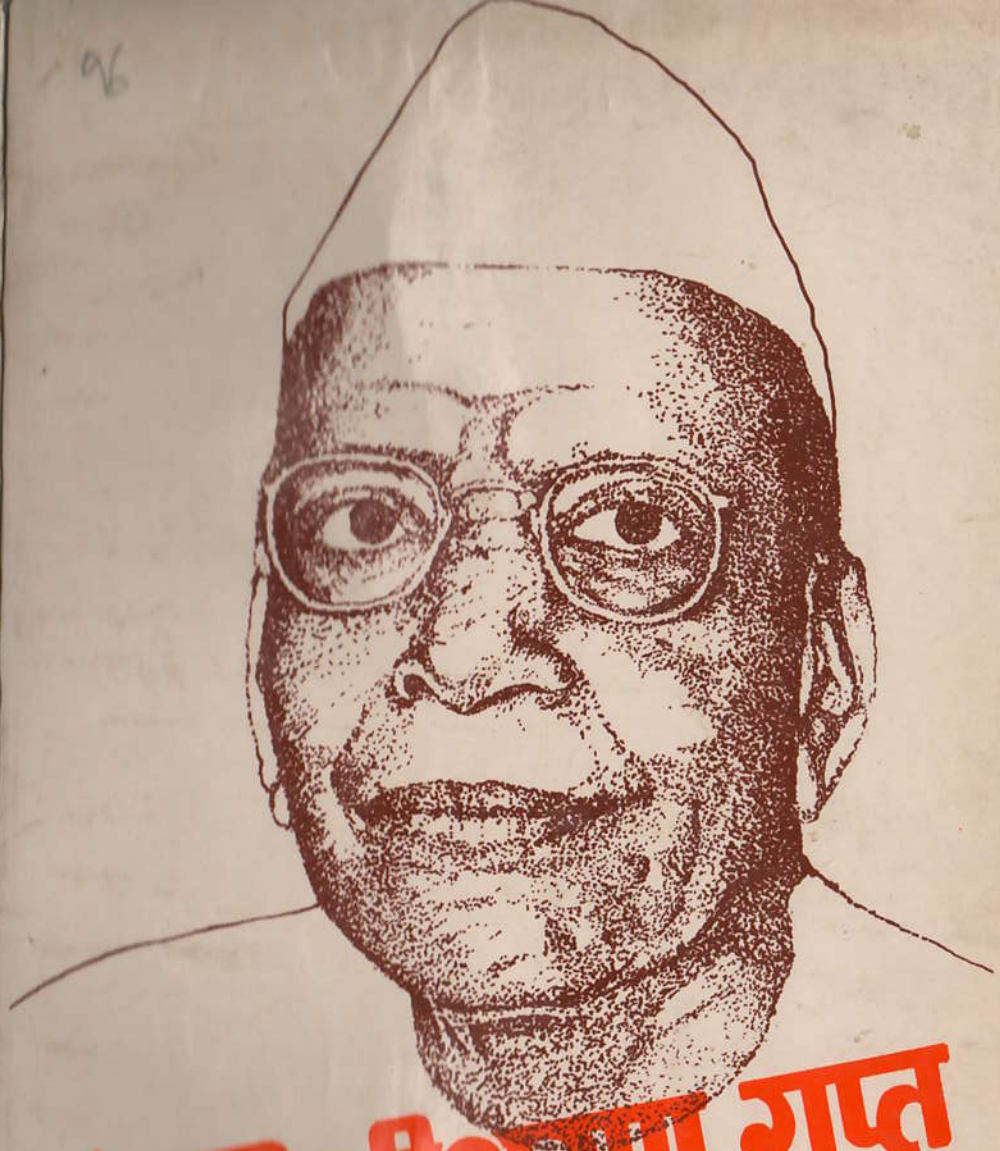

मैथिलीशरण गुप्त
एक मूल्यांकन

मैथिलीशरण गुप्त एक मूल्यांकन

मैथिलीशरण गुप्त
एक मूल्यांकन

☆

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली-५५

फरवरी १९८८

कापीराइट © पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
नयी दिल्ली-55

मूल्य : १५ रुपये

ISBN 81-7007-074-0

पी. पी. सी. जोशी द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नयी दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, रानी झांसी रोड, नयी दिल्ली से प्रकाशित।

प्रस्तावना

मैथिलीशरण गुप्त के जन्मशती वर्ष में उनको श्रद्धांजलि अर्पित करने और उनके कृतित्व एवं व्यक्तित्व का प्रगतिशील दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने के उद्देश्य से दिसम्बर १९८६ में राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ और पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस ने एक संगोष्ठी का आयोजन किया था। संगोष्ठी विचारोत्तेजक और फलप्रद विचार-विमर्शों के साथ सम्पन्न हुई।

प्रस्तुत लेख-संग्रह में मुख्यतः इस संगोष्ठी में पढ़े गये लेख संकलित हैं। ये ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भों में राष्ट्रकवि की प्रासंगिकता को नये सिरे से उजागर करते हैं। लेखकों का, सामूहिक और व्यक्तिगत तौर पर, यही प्रयास रहा है कि कवि को उसकी तमाम उपलब्धियों और सीमाओं के साथ प्रस्तुत किया जाय।

लेखकों ने कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व के अलग-अलग पहलुओं को छुआ है और उनमें मत-भिन्नता की गुंजाइश भी है, किन्तु समग्र रूप से देखें तो इससे साहित्य के मूल्यांकन सम्बन्धी प्रगतिशील दृष्टिकोण भी स्पष्ट होता है।

आशा है मैथिलीशरण गुप्त का यह मूल्यांकन हिन्दी पाठकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा।

राजीव सक्सेना,
महासचिव,
राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासंघ

क्रम

प्रस्तावना

मैथिलीशरण गुप्त और राष्ट्रीय नवजागरण ३
राजीव सक्सेना

जो पीछे आ रहे उन्हीं का, मैं आगे का जय-जयकार १८
(मैथिलीशरण गुप्त का आत्म संघर्ष और कविता)
कमला प्रसाद

मैथिलीशरण गुप्त में पौराणिकता और आधुनिकता ३३
खगेन्द्र ठाकुर

मैथिलीशरण गुप्त का मानववाद ४२
डॉ. रामदरश मिश्र

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में सर्वधर्म समभाव ५०
डॉ. सुवेश

गुप्त जी का नारी विषयक दृष्टिकोण ६०
विश्वनाथ त्रिपाठी

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में जन-चेतना ६७
ललित शुक्ल

मैथिलीशरण गुप्त की गद्य-शैली ७४
रामशरण शर्मा 'मुंशी'

नई भाषा में सामाजिकता का पहला स्वर : गुप्त जी ८३
गिरिजा कुमार माथुर

मैथिलीशरण गुप्त और आधुनिक हिन्दी काव्य
भाषा का विकास ९२
डॉ. नामवर सिंह

मैथिलीशरण गुप्त और राष्ट्रीय नवजागरण

—राजीव सक्सेना

१८५७ की जन-क्रान्ति और उसकी विफलता भारत के इतिहास में एक राजनीतिक मोड़ के साथ एक निर्णायक सांस्कृतिक मोड़ भी सिद्ध हुई जहां से मध्ययुगीन जीवन मूल्यों के खिलाफ आधुनिक मूल्यों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ ।

इस जन-क्रान्ति में मुख्यत: किसानों और दस्तकारों तथा उनके सिपाही पुत्रों ने भाग लिया जो १८वीं सदी में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की लूट का शिकंजा कसने के कारण तबाह हो रहे थे और छोटे-मोटे स्थानीय किसान-दस्तकार विद्रोहों में भाग ले रहे थे । इनका नेतृत्व मुख्यत: सामन्ती सरदारों के हाथ में था जिनके हाथों से अंग्रेज कम्पनी के एजेण्ट, इस या उस बहाने—अधिकांशत: बदइंतजामी या वारिस न होने के नाम पर—उनकी रियासतें छीनते और ब्रिटिश राज में मिलाते जा रहे थे ।

क्रान्ति के दौरान ही अंग्रेज कम्पनी ने चाल बदली । उन्होंने सामन्तों से समझौते करने और अपने अधिकार वाले क्षेत्रों में एक नयी उप-सामन्त श्रेणी बनाकर किसानों पर उनको लादने के हथकण्डों से जन-क्रान्ति को नेतृत्वहीन बनाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था । इसका चरम शिखर था इंगलैण्ड की महारानी को परोक्ष रूप से भारत का शासक घोषित कर देना जिससे भारतीय सामन्तों के लिए अभयदान में विश्वास करने का आधार पैदा हुआ और वफादारी के लिए एक राजसी प्रतीक मिल गया ।

जन-क्रान्ति की विफलता के बाद विदेशी शोषण-दोहन और भी तेज हो गया । सामन्तों को दी गयी रियायतें, नये कमरतोड़ टैक्स, ब्रिटेन के मशीन-निर्मित माल के निरंकुश, लगभग टैक्स-हीन आयात और भारतीय माल पर भारी महसूलों के लगाये जाने से दस्तकारों की बरबादी आदि से देश आर्थिक रूप से जर्जर हो रहा था । अकाल और भुखमरी एक स्थायी विपदा बन गयी थी । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पत्र 'कवि वचन सुधा' में १८ मई १८७४ को लिखा था :

"अब तो प्रति वर्ष कहीं न कहीं दुष्काल पड़ ही रहा है, मुख्य करके अंग्रेजी राज में इसका घर है । . . . जब अंग्रेज विलायत से आते हैं, प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं । . . . इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं ।"

लंदन में बैठे हुए मनीषी कार्ल मार्क्स ने १८८१ में इसी सत्य को और भी व्यापक संवेदना के साथ जोड़ कर यूं देखा :

"अंग्रेज भारतीयों के लिए अनुपयोगी रेलों से मुनाफों के रूप में, लगान के रूप में, फौजी अफसरों और अपने नागरिक प्रशासकों की पेंशनों के रूप में, अफगानिस्तान तथा अन्य युद्धों के खर्च के रूप में, आदि-आदि रूपों में जो कुछ बिना उसके बराबर दिये हुए ले जाते हैं और जो कुछ भारत के अन्दर ही हड़प जाते हैं—केवल उन जिन्सों के मूल्य को देखते हुए जिन्हें भारतवासियों को मुफ्त ही और हर वर्ष ही इंगलैण्ड भेजना पड़ता है—उन सबका कुल मूल्य भारत के ६ करोड़ कृषि और औद्योगिक मजदूरों की आमदनी के कुल योग से अधिक बैठता है। यह तो बदगुमानी के साथ खून चूसने की प्रक्रिया है। एक पर एक अकाल वर्ष लदते जा रहे हैं और उनके आयाम कितने विराट हैं कि उनके बारे में यूरोप में सन्देह तक नहीं है।" (मार्क्स-एंगेल्स, चुनी हुई पत्रावली, अंग्रेजी संस्करण, १९७५, पृष्ठ ३१७)

नयी बुद्धिजीवी श्रेणी की चिन्ता-दिशा यही थी। उस समय का श्रेष्ठ साहित्य किसानों की बरबादी और भयानक दुर्भिक्ष की पीड़ा से आक्रोशपूर्ण है—बंकिम बाबू का 'आनन्द मठ', भारतेन्दु जी से लेकर मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं तक तीन-चार पीढ़ी का साहित्य इन्हीं सन्दर्भों से भरा हुआ है।

इस नयी बुद्धिजीवी श्रेणी में शामिल थे : बरबाद सामन्ती वर्ग जिनकी स्मृति में १८५७ के अंग्रेज-विरोधी सशस्त्र संग्राम की गूंज शेष थी; पुराना व्यापारी वर्ग जो अंग्रेजों से संघर्ष कर उनका सहयोग जीतने तथा अपने व्यापार को नया आयाम देने की आशा से स्फूर्त था और इस संघर्ष के लिए जनता की दीन-हीन दशा को अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करना चाहता था; पुरानी बुद्धिजीवी श्रेणी, ब्राह्मण, जो जन-समस्याओं से जोड़ कर वेद-वेदान्तों की पुनर्प्रतिष्ठा के साथ अपना वर्चस्व स्थापित रखना चाहती थी : नयी किरानी श्रेणी जो अंग्रेजों की सेवा में तो लगी थी किन्तु अपने पश्चिमी ज्ञान-गुण के बल पर अपनी अस्मिता अर्जित करना चाहती थी। स्पष्ट ही, इनमें परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियां एक साथ मौजूद थीं : सामन्ती और जनतांत्रिक।

साहित्य की दृष्टि से एक नये युग की सुबह हो रही थी जिसमें बुद्धिजीवी श्रेणी ने जातीय दीन-हीन दशा से विकल होकर यथार्थ की ओर मुंह मोड़ा और अपनी सामाजिक-राजनीतिक समीक्षा से अपनी सृजन शक्ति तथा साहित्य रचना को जोड़ा। किन्तु साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति सदा जातीय स्मृतियों, उसके अपने मिथकों और प्रतीकों के माध्यम से होती है। वेद, गीता, भागवत और रामायण को भारतीय संस्कृति के गौरव ग्रंथों के रूप में स्मरण करते हुए आर्य सभ्यता की महानता पर उन दिनों बहुत लिखा गया और पश्चिम में मैक्स मूलर जैसे विद्वानों ने (जो वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्य के "सभ्यता प्रसार

अभियान" के पाखण्ड और उसके पीछे विकसित जातियों के दमन से उद्वेलित थे) उसकी तसदीक कर दी तो एक सशक्त पुनरुत्थानवादी धारा ने जन्म लिया जिसके सहारे औसत हिन्दू अंग्रेज शासक पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर मानसिक सन्तोष और संघर्ष बल प्राप्त कर सकता था : विवेकानन्द, तिलक, न्यायमूर्ति रानाडे, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, अरविन्द घोष, बंकिम चंद्र, लाला लाजपत राय, बिपिन चंद्र पाल आदि कमोबेश इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से काम कर रहे थे। ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक रूप से जो जितने कट्टर और रूढ़िवादी थे, वे राजनीति में उतने ही अधिक उग्र थे। बाल (तिलक), लाल (लाला लाजपत राय) और पाल (बिपिन चंद्रपाल) उस समय कांग्रेस में गरम दल के नेता थे।

उत्तर भारत में दूसरा बड़ा सम्प्रदाय मुसलमानों का था और उसमें उलेमाओं ने इसी वृत्ति से काम किया। वहाबियों ने अंग्रेजी राज को 'दारुल हरब' (युद्ध क्षेत्र) घोषित कर दिया और जेहाद (पवित्र युद्ध) छेड़कर पुनः इस देश को 'दारुल इस्लाम' (शान्ति क्षेत्र) बनाने की घोषणा की। वहाबियों के सशस्त्र, गुरिल्ला संघर्ष को ब्रिटिश सेनाओं ने १८३१ में पराजित कर दिया। १८५७ की विफलता के बाद उलेमाओं ने १८६७ में देवबंद में 'दारुल उलूम' स्थापित किया जहां सच्चे इस्लामी मजहब और कायदे-कानूनों की शिक्षा दी जाने लगी। उन्होंने अंग्रेजों से सम्पर्क रखना तक वर्जित कर दिया—अंग्रेजी भाषा और विज्ञान की पढ़ाई का तो प्रश्न ही कहां उठता था। बाद में जब अलीगढ़ से सर सैय्यद अहमद खान के नेतृत्व में (जो पढ़े-लिखे और अंग्रेजों के सम्पर्क में आये सामन्तों और नवोदित व्यापारियों के प्रतिनिधि थे) अंग्रेजी पढ़ाई-लिखाई के समर्थन में नया आन्दोलन शुरू हुआ तो उलेमाओं ने सैयद अहमद खान की निन्दा करते हुए 'फतवा' जारी कर दिया। सर सैयद मुसलमानों के कांग्रेस में शामिल होने का विरोध कर रहे थे, जबकि दारुल उलूम के उलेमा अपने वफादारों में कांग्रेस का समर्थन करने का प्रचार कर रहे थे। अन्ततः ये उलेमा पाकिस्तान की मांग के विरोध में भी खड़े हुए।

इस मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के प्रारम्भिक चरण में महाकवि हाली ने (१८७९ में) अपनी प्रसिद्ध कृति 'मुसद्दस' तथा अन्य रचनाएं दीं जो आगे चलकर मैथिलीशरण गुप्त की रचना "भारत-भारती" का प्रेरणा-स्रोत बनी।

इस प्रकार ब्रिटिश शासन के प्रथम चरण में हिन्दू और मुसलमान पुनरुत्थानवाद की धाराएं नवोदित भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तर्गत एक दूसरे की पूरक अंग बन रही थीं। इन अवधारणाओं में अभी साम्प्रदायिकता का विष पैदा नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के एक संघ के रूप में भारत की परिकल्पना उभरती थी। इस परिकल्पना के अन्तर्गत किसका वर्चस्व होगा, इस प्रश्न पर संघर्ष होना

स्वाभाविक था और अंग्रेजी शासकों ने इस नाजुक रग का फायदा उठाया और १८७० के बाद 'फूट डालो और राज करो' की नीति लागू करने के लिए उन्होंने दो पुनरुत्थानवादों को रगड़ कर साम्प्रदायिक चिनगारियां पैदा कीं और उसे हवा दी। १८९० में ब्रिटिश सरकार बम्बई में साम्प्रदायिक दंगा कराने में सफल हो गयी।

उसके बाद वाले काल में स्वतंत्रता-सेनानी तथा साहित्य और संस्कृति कर्मी हमारे राष्ट्र और राष्ट्रीय एकता को, स्वतंत्रता आन्दोलन विकसित करते हुए, इसी व्याधि से बचाने के लिए कलम लेकर जूझते रहे।

: २ :

इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में १८८६ में एक छोटे से गांव, चिरगांव (जिला झांसी, उ. प्र.) में मैथिलीशरण गुप्त का जन्म हुआ। वैष्णव धर्म के प्रति गहन आस्था इस छोटे से व्यापारी (वैश्य) परिवार में उन्हें घुट्टी के साथ पिलायी गयी। छूत-छात, जात-पांत, ऊंच-नीच की सवर्ण हिन्दू अवधारणाएं उन्हें विरासत में मिलीं। इसके साथ ही विरासत में मिली काव्य रचना की प्रेरणा—उनके पिता ब्रजभाषा के (जिसमें बुंदेली मिश्रित रहा करती थी) बड़े पुष्ट कवि थे। पिता धार्मिक पुरुष थे जो पारलौकिक और लौकिक सत्ता के सामने भीरु आत्म समर्पण करने में ही मानव कल्याण समझते थे।

इसके साथ ही उस समय के झांसी का साहित्यिक वातावरण भी द्रष्टव्य है जहां गुप्त जी ने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। राष्ट्रवाद की दृष्टि से झांसी देश के अग्रगण्य भागों में से एक था जिसका श्रेय झांसी की रानी के वीरतापूर्ण अंग्रेज-विरोधी संग्राम की स्मृतियों को था जो उस समय अनेक वृद्धों के संस्मरणों और गौरव-गानों में जीवित थीं। यहीं महावीर प्रसाद द्विवेदी, जो गुप्त जी के गुरु सिद्ध हुए, राष्ट्रवाद की आग में तपकर खरे देशभक्त लेखक और विचारक के रूप में उभर रहे थे। गुप्त जी इस वातावरण में व्याप्त मानसिकता से अछूते नहीं रह सकते थे और न ही रहे।

किन्तु इसी के साथ उस समय झांसी की साहित्यिक रचनाधर्मिता में ब्रजभाषा का बोलबाला था (जो वास्तव में बुंदेली ही अधिक होती थी)। यह ठीक है कि स्थानीय ब्रजभाषा के कवियों ने राष्ट्रवादी विचारों को—और मुख्यतः उसकी उग्र धारा को—अपनी विषय-वस्तु बनाया, किन्तु उन्होंने न रीति काल का नायिका भेद छोड़ा और न अलंकारों का मोह। उदाहरण के लिए, उन दिनों कवीन्द्र नाथूराम माहौर की काव्य कृति 'वीरवधू' एक प्रसिद्ध रचना थी जिसमें रानी झांसी का शिख-नख वर्णन वीर रस के उपमानों के माध्यम से किया गया था। यह कविता चमत्कार अधिक प्रतीत होती थी, भाव-प्रवण या विचारोत्तेजक नहीं के बराबर।

मैथिलीशरण गुप्त का जीवन और साठ वर्ष लम्बा कृतित्व अपने को विरासत में प्राप्त रूढ़िवादी सांस्कृतिक मूल्यों से क्रमशः मुक्त करने, राष्ट्रीय नवजागरण में योगदान करने और वर्तमान हिन्दी का निर्माण करने तथा हिन्दी साहित्य का विकास करने के संघर्ष का इतिहास है। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन एक राष्ट्र के मुक्त होने के संघर्ष का इतिहास है तो वह उस जाति और उसके व्यक्ति सदस्यों की मुक्ति का भी इतिहास है जिसका आलेखात्मक विवरण साहित्य के माध्यम से प्राप्त होता है। मैथिलीशरण गुप्त का अध्ययन, उनकी प्रारम्भिक रचनाओं के परिदृश्य में ही बाद की परिपक्व रचनाओं को रख कर देखना तथा कवि के कृतित्व का मूल्यांकन करना उनको और समय को स्थिर (स्टैटिक) मानकर मूल्यांकन करना है जो गलती अनेक प्रगतिशील आलोचक कर बैठे हैं। प्रगतिशील समीक्षा-पद्धति साहित्य को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर परखती है और समसामयिक स्थिति में अगर रचना की कोई प्रगतिकामी भूमिका है, तो उसको रेखांकित कर उससे मानव-मूल्यपरक तथा साहित्य कला-परक उचित समझ पैदा करती है। प्रतिगामी भूमिका की रचना हीन और त्याज्य मानी जाती है।

उत्तर भारत में हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थानवाद के काल में एक रूढ़िवादी संस्कार वाले परिवार में जन्मे मैथिलीशरण गुप्त के लिए उसकी किन्हीं सीमाओं की श्रृंखलाओं को तोड़कर आगे बढ़ने का संघर्ष बड़ी साधना और अध्यवसाय की अपेक्षा करता था। वह अंग्रेजी नहीं जानते थे, सिर्फ हिन्दी ही जानते थे, इसलिए पश्चिम का नया जनवादी साहित्य उनकी पहुंच के बाहर था। किन्तु यह ऐतिहासिक संयोग ही था कि वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में आये। एक सुशिक्षित रेलवे अधिकारी होने के कारण और शायद रेलवे में यूनियन के कार्यकर्ताओं के माध्यम से, पश्चिम के मजदूर आन्दोलन की गूंज और जनवादी साहित्य का कुछ न कुछ भाग उन तक पहुंच रहा था और वह नये भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के हिरावल दस्ते के अंग बन चुके थे। उनकी वैचारिक बुलन्दियों की चर्चा के लिए डा. रामविलास शर्मा की पुस्तक "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण" पढ़नी चाहिए।

स्वयं मैथिलीशरण गुप्त के कथनानुसार, वह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से १९०३ के अन्त या १९०४ के प्रारम्भ में मिले थे। इस भेंट के फलस्वरूप गुप्त जी बृज भाषा और उसकी रीतिवादी धारा से मुक्त हुए और उनका नयी जनतांत्रिक विचारधाराओं से सम्पर्क स्थापित हुआ, जो उस समय की प्रमुख पत्रिका 'सरस्वती' के पृष्ठों को रोशन कर रही थीं। स्पष्ट ही, भारतेन्दु युग में जिस हिन्दी गद्य ने तेज गति से विकास के चरण रखे थे, वह अब जटिल और प्रगतिशील आर्थिक, राजनीतिक और दार्शनिक विषयों को हिन्दी पाठकों तक पहुंचाने में समर्थ हो गया था। कविता के क्षेत्र में हिन्दी अभी शिथिल थी। इस क्षेत्र

में उसको पुष्ट करने के कार्य में द्विवेदी जी की सहायता से गुप्त जी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

मैथिलीशरण गुप्त की प्रारम्भिक रचनाएं सचमुच हिन्दू पुनरुत्थान-वाद से प्रेरित हैं, किन्तु उन्होंने उसकी उदारवादी प्रवृत्तियां ग्रहण कीं जो विवेकानन्द, अरविन्द और रानाडे जैसे दार्शनिकों और चिन्तकों के कृतित्व में उपलब्ध हैं । इनके राष्ट्रीय नवजागरण की मुख्य प्रवृत्ति के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया गुप्त जी की प्रारम्भिक कृतियों में से एक, "भारत-भारती" में ही मौजूद है जिसको हाली के "मुसद्दस" के पूरक रूप में लिखा गया था । हाली की कृति का शीर्षक है "मुसद्दस-मद्दो-जजे-इस्लाम"; गुप्त जी की पुस्तक का शीर्षक 'भारत-भारती' होना ही यह संकेत करता है कि वह अपने विचारों को पूरे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में रखना चाहते थे । उसके पहले उर्दू में कैफी का "मुसद्दस" प्रकाशित हो चुका था जिसका शीर्षक था "भारत-दर्पण" । गुप्त जी ने हाली के बजाय बृजमोहन दत्तात्रेय कैफी के "मुसद्दस" को अपना आदर्श बनाया।

"भारत-भारती" की रचना के लिए करौंदी सुदौली (रायबरेली) के राजा रामपाल सिंह ने एक पत्र द्वारा कवि को प्रेरित किया । आचार्य द्विवेदी शंकित थे कि गुप्त जी को शासकों का कोपभाजन बनना पड़ेगा । राजा रामपाल सिंह ने समझाया, "हम लोग राज-द्रोही थोड़े ही हैं ।" यही वाक्य 'भारत-भारती' की सीमा निश्चित करता है । राजा रामपाल सिंह प्रसिद्ध कांग्रेसी थे जिनकी चर्चा डा. पट्टाभि सीतारमैया ने अपने बृहत ग्रंथ "कांग्रेस का इतिहास" तक में की है (देखिए, उक्त पुस्तक, भाग १, अध्याय ६) और स्मरण कराया है कि दूसरी कांग्रेस में "सैनिक-स्वयंसेवक" बनाये जाने का प्रस्ताव उन्होंने ही रखा था । अतः उनके पत्र से उस समय के स्वतंत्रता सेनानियों की नीति-रीति का परिचय मिलता है । गुप्त जी ने इस निर्देश को स्वीकार करना राष्ट्रीय कर्तव्य का पालन करना समझा हो तो कोई आश्चर्य नहीं । इसीलिए "भारत-भारती" में ये दो परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाले पद्य मिलते हैं । राज्यभक्ति के प्रदर्शन के लिए कुछ पंक्तियां अर्पित हैं :

सम्प्रति समुन्नति की सभी हैं प्राप्त सुविधाएं यहां,
सब पथ खुले हैं, भय नहीं, विचरो जहां चाहो वहां ।

* * *

भेजा प्रसिद्ध उदार उसने ब्रिटिश राज्य यहां नया (पृष्ठ ८०)

उसके विपरीत इस राज्य के अन्तर्गत आम दुर्दशा के मर्मस्पर्शी चित्र भी हैं :

यद्यपि हताहत गात में कुछ सांस अब भी आ रही,
पर सोच पूर्वापर दशा मुंह से निकलता है यही—
जिसकी अलौकिक कीर्ति से उज्ज्वल हुई सारी मही,
था जो जगत का मुकुट, हैं क्या हाय यह भारत वही ? (पृष्ठ ८४)

दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है । (पृष्ठ ९३)

* * *

पानी बनाकर रक्त का कृषि कृषक करते हैं यहां,
फिर भी अभागे भूख से दिन रात मरते हैं यहां । (पृष्ठ ९६)

* * *

हो प्राप्त पशुता को स्वयं मनुजत्व अपना खो रहे । (पृष्ठ १२६)

मनुष्यता खोकर भारतवासी पशुता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं तो क्यों ? पाठक समझ लेता है कि यह सब ब्रिटिश राज की देन है । कोई आश्चर्य नहीं कि उन दिनों 'भारत-भारती" राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम का घोषणापत्र बन गया था । उसके ये शब्द हर देशभक्त हृदयंगम कर रहा था :-

शासन किसी परजाति का चाहे विवेक विशिष्ट हो
सम्भव नहीं है किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो । (पृष्ठ ८१)

ध्यान रहे, इस समय तक स्वयं कांग्रेस भी ब्रिटिश ताज की वफादारी के प्रस्ताव पास किया करती थी । स्वयं लोकमान्य तिलक ने, जिन्होंने हमें 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" का नारा दिया, 'होम-रूल लीग,' की स्थापना के बाद भी वफादारी की घोषणा जारी रखी, हालांकि १९१६ में उन पर इस सबके बावजूद राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया ।

प्राचीन गौरव की गाथा गाने वाली "भारत-भारती" ही में गुप्त जी ने यह भी चेतावनी दी :

प्राचीन बातें ही भली हैं यह विचार अलीक है,
जैसी अवस्था हो जहां, वैसी व्यवस्था ठीक है । (पृष्ठ १६०)

और यहां तक कहा कि 'हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र कहा जा सकता है । इस अर्थ में वह लोकमान्य से आगे है (हालांकि "भारत-भारती" में उन्होंने लोकमान्य के प्रति श्रद्धा प्रकट की है)। लोकमान्य की तरह वह आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता की धारणावश उसकी कमजोरियों को भी सहन करने के लिए तैयार नहीं थे । उदाहरण के लिए, वह तिलक की तरह हिन्दू समाज के वर्णाश्रम विभाजन को यानी जाति को अपनी कृति "अंजलि और अर्घ्य" में "प्रकृति-गुण-कर्म-मयी" मानते हैं, किन्तु अपने पूज्य कवि तुलसीदास के इस मत का खण्डन करते हैं :

पूजिय विप्र सील-गुन-हीना ।
सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना ।

और "साकेत" में स्पष्ट उद्घोषित करते हैं :

द्विजता तक आततायिनी—
वध में है कब दोषदायिनी ।

अर्थात उनकी दृष्टि में आततायी द्विज के वध में भी कोई दोष नहीं है । अपनी कृति "हिन्दू" में 'चौका' शीर्षक कविता में हिन्दुओं के 'कच्चे-पक्के' भोजन की परिकल्पना पर आघात किया है तो साथ ही 'अछूतों

का उद्धार' शीर्षक कविता में अस्पृश्यता निवारण और अछूतों के मंदिर प्रवेश का समर्थन किया है। नारी की दुरवस्था का प्रत्याख्यान तो उनके काव्य का मूलाधार बन गया। यही प्रश्न उनके समस्त महाकाव्यों का प्राण है। "भारत-भारती" ही में कहा था :

पाले हुए पशु-पक्षियों का ध्यान तो रखते सभी,
पर नारियों की दुर्दशा क्या देखते हैं हम कभी।

किसान, अछूत और नारी की मुक्ति को हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य सूत्र बनाने में गुप्त जी ने पूरी तरह अपनी भूमिका निभायी।

राष्ट्रीय आन्दोलन का एक और प्रमुख प्रश्न था सभी संप्रदायों में एकता। गुप्त जी ने इस समस्या को सदा महत्वपूर्ण समझा और लगभग हर कृति में किसी न किसी बहाने उन्होंने सर्वधर्म समभाव और राष्ट्र-हित के लिए एकता के सूत्रों का प्रतिपादन किया। उन्होंने 'मंगलघट' (पृष्ठ २६२) में लिखा :

जाति, धर्म या सम्प्रदाय का
नहीं भेद व्यवधान यहां।
राम-रहीम-बुद्ध-ईसा का
सुलभ एक सा ध्यान यहां

उनकी कृति "हिन्दू" और "गुरुकुल" को देखकर लगता है कि वह 'हिन्दू राष्ट्रवाद' जैसी फासिस्ट विचारधारा के शिकार हो गये हैं। 'हिन्दू" में उनका कथन है :

हिन्दू धन्य तुम्हारी सृष्टि,
तदपि हाय तुम अस्त-व्यस्त,
इसीलिए यह रुदन समस्त।

इन कृतियों की रचना तीसरे दशक के मध्य में हुई थी जब कांग्रेस के दिग्भ्रमित हो जाने के बीच अंग्रेजों के इशारे पर साम्प्रदायिक तत्वों ने खून की नदियां बहायीं और फूट बढ़ायी। डा० पट्टाभि सीतारमैया ने "कांग्रेस का इतिहास" (भाग १) में लिखा है : "६ अप्रैल १९२६ को लार्ड इरविन भारत आये। ६ हफ्ते तक कलकत्ता की सड़कों पर हत्या-काण्ड और अराजकता का नंगा नाच होता रहा।" गुप्त जी इससे क्षुब्ध हुए और उसको हिन्दुओं की निर्बलता का चिह्न समझ कर इन रचनाओं की ओर प्रवृत्त हुए। इस क्षोभ में काव्य कला उनके हाथ से छूट गयी और रचनाएं सपाट पद्य-प्रबन्ध होकर रह गयीं। फिर भी "जय हिन्दू, जय हिन्दुस्तान" की आन्तरिक अनुगूंज के बीच, न उन्होंने हिन्दू समाज की दुर्बलताओं से आंखें मूंदीं (विशेषकर हरिजनोद्धार के संदर्भ में) और न राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता के महत्व का सूत्र भुलाया। उन्होंने कहा :

मुसलमान भाई हो शान्त,
सोचो, तुम्हीं तनिक एकान्त,

* * *

मातृभूमि का नाता मान,
हैं दोनों के स्वार्थ समान :

गुप्त जी सांप्रदायिक हो भी नहीं सकते थे। उनके एक बाल सखा और साहित्य जीवन के सहचर, मुंशी अजमेरी जी, मुसलमान थे, जिनके प्रति परम्परागत व्यवहार के कारण वह अपने विवाह में रिश्तेदारों से रुष्ट हो बैठे थे। किन्तु यह असाम्प्रदायिकता परम्परागत ही थी यानी कि हम अपना धर्म मानें, वे अपना धर्म, एक मिलकर वर्णाश्रम धर्म का पालन करें और एकतापूर्वक ब्रिटिश शासकों से देश को मुक्त करने में योग दें।

अपने विकास के प्रथम चरण में गुप्त जी मुख्यतः राष्ट्रवाद के प्रचारक अधिक थे : कवि हों या न हों, महान उद्देश्यों के लिए उसका लेखन समर्पित होना चाहिए, यह उनकी दृढ़ मान्यता थी :

कवि के कठिनतर कर्म को करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।
(भारत-भारती, पृष्ठ ३१३)

समसामयिक समस्याओं पर लिखने और विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता की कामना प्रबल बनाने का जो क्रम भारतेन्दु युग में प्रारम्भ हुआ, गुप्त जी ने उसको सशक्त रूप से आगे बढ़ाया। "भारत-भारती" उनकी सर्वाधिक सशक्त प्रतिनिधि रचना थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "भारत-भारती" के प्रकाशन से ही "गुप्त जी को लोकचित में राष्ट्र-प्रीति की भावना जगाने वाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिन्दी जगत देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र कवि हैं।"

निःसंदेह, उक्त कवि दर्शन से अनेक स्थलों पर गुप्त जी की कविता श्रीहीन हो गयी है और विचारोत्कृष्टता के बावजूद वह मात्र तुकबन्दी बन कर रह गयी है। इसी अवधि की अन्य रचनाओं से, विशेषकर "जय-द्रथ-वध", "पंचवटी" और "सैरेन्ध्री" से स्पष्ट है कि कवि पूर्ण काव्य-प्रतिभा का धनी है जिसकी क्षति हुई तो संभवतः कविता की एकांगी उपयोगिता-वादी अवधारणा के कारण। किन्तु इस धारणा के बीच भी कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो एक समर्थ कवि को भाव, भाषा और अभिव्यक्ति के शिखर पर पहुंचा सकते हैं; जैसे गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक (रचना काल लगभग १९१०), मातृभूमि के स्तवन विषयक अविस्मरणीय कविता :

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियां प्रेम-प्रवाह, फूल-तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खग-वृन्द, शेष फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस देश की,
हे मातृभूमि, तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

: ३ :

मैथिलीशरण गुप्त को मानवतावाद तो वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यताओं

के रूप में विरासत में मिला था। शोषित-पीड़ित, दीन-हीन पर दया, करुणा और परोपकार का भाव—ये सभी भगवान को प्राप्त करने का साधन हैं—साध्य भगवान और मुक्ति हैं। भक्ति आन्दोलन की इसी धारा ने वर्णाश्रम धर्म की क्रूर व्यवस्था का असह्य ताप कम करने में सहायता की थी। गांधी जी इसी मानवतावादी दर्शन से प्रेरित थे और उनका सर्वोदय सिद्धांत इसका व्यावहारिक रूप था।

किन्तु तीसरे दशक तक भारत में पश्चिम की मानववादी विचारधाराओं, और उसके सर्वोच्च स्वरूप मार्क्सवाद तक पर विचार-विनिमय होने लगा था। राष्ट्रीय नवजागरण का यह तीसरा चरण था (पहला चरण १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में शुरू हुआ था और दूसरा इस सदी के प्रारम्भ में)। मोटे तौर पर इसका सूत्र ईसा पूर्व पांचवीं सदी के यूनानी दार्शनिक प्रोटागोरस का यह कथन था कि हर बात के सही-गलत होने का माप मनुष्य है (मैन इज द मेजर आफ़ आल थिंग्स)। इसके साथ १९वीं सदी के दार्शनिकों का विवेकवाद (रैशनलिज्म) जुड़ जाता है कि तर्क और तथ्यों की कसौटी पर खरी उतरी बात ही सत्य और ग्राह्य है। कोई अंधविश्वास या आस्था मात्र संतोषजनक नहीं है।

दो महान विभूतियों ने मानववाद के भारतीय संस्करण को प्रस्थापित किया। एक तो स्वामी विवेकानंद ने जिन्होंने कहा कि पीड़ित मनुष्य की सेवा करना ईश्वर की पूजा करना है। दूसरे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने, जिन्होंने "गीतांजलि" में ईश्वर को शोषित-पीड़ित समाज में प्रतिष्ठित बताया और इस पृथ्वी पर मानव जीवन के सामने परलोक के सुख की और मुक्ति की कामना करना अस्वीकार कर दिया।

अपने विकास के अगले चरण में मैथिलीशरण गुप्त प्राचीनता को पुनरुत्थान का आधार मानने की पिछली अवधारणा को तिलांजलि देते दिखायी देते हैं क्योंकि, "गतानुगतिकता पर ही रह सकता उद्योगी।" वह "द्वापर" में घोषित करते हैं :

अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी,
सजग रहें, इससे दुर्बलता और दीनता होगी।
जिस युग में हम हुए वही तो अपने लिए बड़ा है,
अहा हमारे आगे कितना कर्म-क्षेत्र पड़ा है।

* * *

न्याय-धर्म के लिए लड़ो तुम, ऋतु-हित समझो-बूझो,
अजय राज, निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो। (पृष्ठ ४९, ५९)

अपने उत्कर्ष काल में उन्होंने संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद की सीमा तोड़ कर 'विश्व-बंधुत्व' का लक्ष्य गले लगाया जो शायद नेहरू जी का प्रभाव था :

किन्तु हमारा लक्ष्य एक अम्बर, भू, सागर,
एक नगर-सा बने विश्व, हम उसके नागर। (राजा-प्रजा, पृष्ठ ४६)

आगे की रचनाओं में 'कर्म' पर बड़ा बल है। 'दिवोदास' में गुप्त जी मानो पिछले वैचारिक संस्कार को झटकते हुए कहते हैं, 'कल तक नाम जपा है हमने, आज करेंगे काम'। "साकेत" में स्वयं राम अपने को 'कर्म प्रधान' कहते हैं :

पर जो मेरा गुण कर्म स्वभाव धरेंगे,
वे औरों को भी तार पार उतारेंगे। (पृष्ठ १६७)

किन्तु इस कर्म के साथ गुप्त जी 'गीता' के 'कर्म करो, फल की आशा मत करो' का उपदेश बार-बार देते रहते हैं। राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में यह उपदेश एक सकारात्मक भूमिका अदा कर रहा था। स्वराज्य के लिए संघर्ष करना एक ऐसा कर्म था जिसका फल व्यक्ति को स्वयं प्राप्त होगा या नहीं, स्वयं उसके जीवन काल में भारत स्वतंत्र होगा या नहीं, इसकी भविष्यवाणी कौन कर सकता था। इसको देखते हुए 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' के प्रतिपादन पर बल देना, वास्तव में, आशा बनाये रखना है। यह पुरुषार्थ का चिह्न था और गुप्त जी इसी को सुखद आत्मोपलब्धि मानने का आग्रह कर रहे थे, 'सिद्ध एक पुरुषार्थ हमारी मुक्ति-मुक्ति का मंत्र' (पृथ्वीपुत्र)। यह सच है कि त्याग और तपस्या राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन की पुष्टि के लिए एक आवश्यक तत्व था और यह इतना सुखद था कि देशभक्त हंसते-हंसते फांसी पर चढ़ गये। 'कर्म', 'पुरुषार्थ', 'त्याग', 'बलिदान'—ये सब इसलिए सुखद हो जाते हैं कि उनके पीछे एक महान उद्देश्य होता है। इसीलिए "पृथ्वीपुत्र" में गुप्त जी आह्वान करते हैं :

उठ बढ़, ऊंचा चढ़, संग लिए सबको,
सबके लिए तू और तेरे लिए सब हैं। (पृष्ठ ६४)

वे समष्टि और व्यष्टि के सम्बन्धों को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं : 'समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी' (साकेत, पृष्ठ १६६) और 'योग्य व्यष्टियों के बिना गति क्या समष्टि की' (सिद्धराज, पृष्ठ १३४)।

इस दौर में गुप्त जी मनुष्य की मानवीय गरिमा और कार्य-क्षमता के गौरव गीत गाते हैं। प्रारम्भिक कृति "लीला" में उर्मिला-सुलक्षणा वार्ता में जो बात संदेहजनक शब्दों में कही गयी थी :

उर्मिला : सखि, देवत्व सभी बातों में क्या सबसे उत्तम है ?
सुलक्षणा : ठीक नहीं कह सकती हूं मैं, मनुष्यत्व क्या कम है।
(पृष्ठ ६६))

"नहुष" में वह मनुष्य का यह मूल्यांकन देते हैं : "देव सदा देव तथा दनुज दनुज हैं। जा सकते किन्तु दोनों ओर ही मनुज हैं।" और "दिवोदास" घोषणा करता है :

हम मनुष्य होकर क्या चाहें ?
देवों से भी अधिक क्यों न यह अपना भाग्य सराहें ?

कोई आश्चर्य नहीं, "साकेत" के राम भक्तगण से इस पृथ्वी पर दुःख सहते रहने और उनका नाम जपते हुए मरणोपरांत 'स्वर्ग' और 'मुक्ति' के भोग का आश्वासन नहीं देते। वह अपना उद्देश्य बताते हैं कि इसी पृथ्वी पर स्वर्ग उपलब्ध करने के लिए वह संघर्ष करने आये हैं :

मैं भव में वैभव प्राप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
संदेश यहां मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया। (पृष्ठ १६७)

गुप्त जी अब परलोक सुधारने के बजाय इहलोक सुधारने पर बल देने लगते हैं : "उनको मुक्ति कहां जिनका है, ऐहिक जीवन ही मृतमंद" और 'खोके यहां सब, वहां हम पायेंगे क्या' (जय भारत, पृष्ठ २७९)। और इस प्रकार प्रत्यक्ष के संवेदन को महत्व देने लगते हैं :

अलक्ष्य की बात अलक्ष्य जाने,
समक्ष को ही हम क्यों न मानें।

राम के रूप में अब वह सर्वगुण संपन्न, देवता-समकक्ष मनुष्य को देखते हैं और कह उठते हैं :

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या
तो मैं निरीश्वर हूं, ईश्वर क्षमा करे।

गुप्त जी इस मामले में गांधी जी से आगे थे। गांधी जी उर्मिला को सीता से अधिक महत्व देने पर आपत्ति कर रहे थे, स्पष्ट ही एक कट्टर राम भक्त वैष्णव होने के कारण। उन्होंने १९३२ में यरवडा जेल में "साकेत" पढ़ने के बाद गुप्त जी को लिखा : "उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु 'साकेत' में उसका शायद ही स्थान हो सकता है। तुलसी दास ने उर्मिला के बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है, यह दोष माना गया है। मैंने इस अभाव को दोष-दृष्टि से नहीं देखा। मुझको इसमें कवि की कला प्रतीत हुई। . . . 'मानस' एक अनुपम धर्मग्रंथ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीताराम का जप ही जपाया है। 'साकेत' में भी वही चीज देखना चाहता था—इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ। . . . ." गुप्त जी जितने राम के भक्त थे, उतने ही गांधी जी के, किन्तु उर्मिला के मामले में उन्होंने गांधी जी की सलाह नहीं मानी। यह केवल साहित्य सराहना का मामला नहीं था, दो वैष्णवों के जीवन-दर्शन में जो सूक्ष्म भेद पैदा हो गया था, उसका एक संकेत था। यह बात दूसरी है कि दृष्टिकोण में इस मतभेद के साथ हिंसा-अहिंसा के प्रश्न पर अपने ऊहापोह के बावजूद, गुप्त जी गांधी जी पर आस्था बनाये रहे। गांधी जी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी तब भी वह क्रांतिकारियों से सम्बन्ध रखने वाले गणेश शंकर विद्यार्थी से भी मित्रता बनाये हुए थे। वास्तव में, गुप्त जी और गणेश जी दोनों ही महावीर प्रसाद द्विवेदी के शिष्य थे। द्विवेदी जी उन्हें अंग्रेज सरकार

से टक्कर मोल न लेने के लिए प्रभावित करते थे तो गणेश जी टक्कर लेने के लिए।

साम्यवाद, जो मानववाद का सर्वोच्च स्वरूप है, और कम्यूनिस्टों के प्रति समर्थन में भी गुप्त जी का मानववाद की ओर बढ़ना दृष्टिगोचर होता है। अपने खण्डकाव्य "जयिनी" में उन्होंने मार्क्स सिद्धान्त का निरूपण इन शब्दों में किया है :

धनरूपी फल का परिश्रम ही मूल है।
किन्तु श्रमिकों को फल मिलता है कितना ?
पूंजीपतियों का नहीं जूठन भी जितना ! (पृष्ठ ५०)

निस्संदेह, मार्क्स की पत्नी जेनी (जो कवि के लिए 'जयिनी' बन गयी) के चरित्र ने उनका अत्यधिक मर्मस्पर्श किया क्योंकि उनकी दृष्टि में वह उर्मिला और यशोधरा की ही कोटि की नारी थी। जेनी एक राजसी परिवार की पुत्री है जो मार्क्स के लोक कल्याणकारी कार्य की खातिर अपने सारे सुखों का सहर्ष बलिदान कर देती है। यशोधरा इसी नाम की कृति में कहती है :

मेरे दुख में भरा विश्व सुख क्यों न भरूं मैं हामी।
बुद्धं शरणं, धम्मं शरणं, सघं शरणं गच्छामि। (पृष्ठ १४०)

यही जयिनी है। किन्तु "जयिनी" रचते समय वह मूलतः सर्वोदयवादी ही थे। इसी रचना में उन्होंने कहा :

मैं धनिकों को भाव-दान दूं, तुम दीनों को भाषा,
सत्य सभी सह सकें तुम्हारा, यह मेरी अभिलाषा। (पृष्ठ ५०)

निश्चय ही उन्हें आगे चलकर साम्यवाद की सामाजिक परिकल्पना गांधी जी के रामराज से शायद कुछ अधिक ही आकर्षित करती है। इस विषय पर उनकी बहुत बाद की एक कविता द्रष्टव्य है :

अब संतमंत में खा न सकेगा कोई,
अतिरिक्त नहीं कुछ पा सकेगा कोई,
चल नहीं सकेगी परम्परा की सत्ता,
दिखलानी होगी स्वयं स्वकीय महत्ता।
* * *
कुल कहीं शील का बन न सकेगा बाधक,
होगा कोई भी किसी सिद्धि का साधक,
गावेंगे कृषक कृतार्थ, न यों रोवेंगे,
क्षेत्राधिपति होंगे वही कि जो बोवेंगे।
कर देगा हमको राज्य काम भी देगा,
जो भी होगा जनपेक्ष्य वही वह लेगा।
बच्चों तक का सब भार उसी पर होगा,
वह अखिल राष्ट्र का भरा एक घर होगा।

अपनी हीरक जयन्ती उत्सव पर (नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा १९४६

में दिल्ली में आयोजित) भाषण देते हुए गुप्त जी ने कामना प्रकट की कि 'कम्युनिज्म के समान ही हमारे कम्युनिस्ट अच्छे हों।'

मैं अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों और वार्ताओं के आधार पर कह सकता हूं कि गुप्त बंधुओं में श्री सियारामशरण गुप्त कट्टर गांधीवादी थे, मैथिलीशरण जी नहीं। अक्सर वह सियारामशरण जी से मेरी नोंक-झोंकों में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। वस्तुतः जब गांधी जी के कोपभाजन बनने के बाद सुभाष बोस झांसी आये और चिरगांव गये तो उनके विरुद्ध अशोभन प्रदर्शन के लिए सियारामशरण जी अधिक जिम्मेदार माने जाते थे। मैं भूल नहीं सकता कि उस समय हम किशोरों ने एक तुक-बंदी गढ़ने की धृष्टता की थी :

मूर्खों के तीन गांव,
भोगांव, सेगांव, चिरगांव।

मैथिलीशरण जी ने इसको ठहाके के साथ सुना था और सियाराम शरण जी आग्नेय नेत्रों से देख कर रह गये थे। बहुत बाद में स्वतंत्रता के बाद गुप्त जी ने मुझसे कहा था कि "भैया, लोगों को परिवर्तन से भय लगता है और उन्हें तो विशेष रूप से जो इस समाज में अपेक्षाकृत सुविधा से रहते हैं।" किन्तु वह स्वयं इससे भयभीत न थे। उनकी साम्यवाद से सम्बन्धित कविता का यह अंश देखें :

निज वर्तमान में किसे नितान्त निरति है,
परिवर्तन में भय, किन्तु वहीं तो गति है।
उस सर्वहेतु भी कौन सहर्ष मरेगा ?
पर काल बली निज कार्य सदैव करेगा ?

यह 'काल बली' कहां से टपक आया ? स्वयं गुप्त जी ने मुझे समझाया था : हर परिवर्तन के लिए समय आता है जो हमारे अपने कर्मों और संघर्षों से जन्मता है, यह काल व्यक्ति की अपनी इच्छा से स्वतंत्र होता है। इसीलिए हमें 'गीता' का यह उपदेश अच्छा लगता है कि अच्छे उद्देश्य से कर्म किये जाओ, तुरन्त फल की आशा मत करो। मेरी सारी कविता का सार यही है।

गुप्त जी की सारी साधना पर मुझे उनका ही यह दोहा याद आता है :

अपने अनदिख घाव पर करिए क्या आक्षेप।
पर दुख की अनुभूति का लगा लीजिए लेप। (रत्नावली, पृष्ठ ६६)

मैं समझता हूं कि जो कार्य प्रेमचंद जी ने कथा-साहित्य के लिए किया, वही मैथिलीशरण जी ने कविता के लिए। इन दोनों के साहित्य कर्म में 'पर-दुख की अनुभूति' ही मूल मंत्र है। दुर्भाग्य से, अपने को इनके शिष्य कहने वाले दो साहित्यकारों, जैनेन्द्र और अज्ञेय ने, उनको कलंकित करने का ही कार्य किया, क्योंकि उन्होंने जिस स्वानुभूति को साहित्य सर्जन का मूल मंत्र बना दिया, उसमें से 'पर-दुख की अनुभूति'

को छांट-छांट कर बाहर कर दिया (शायद इस भयवश कि इससे 'कम्युनिज्म' को बल मिलता है)। गुप्त जी की विरासत के सच्चे उत्तराधिकारी प्रगतिशील साहित्यकार हैं जो उनकी परम्परा के स्वस्थ तत्वों को और पुष्ट कर आगे बढ़ा रहे हैं।

गुप्त जी हिन्दी क्षेत्र में राष्ट्रीय नवजागरण के सुयोग्य पुत्र हैं जिन्होंने एक गांव के कोटर से बाहर निकल कर इस पूरे क्षेत्र की सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध किया और साहित्यकारों की अगली पांत में स्थान प्राप्त किया। उनकी सीमाएं इस क्षेत्र के नवजागरण की सीमाएं हैं और उनकी अपनी शक्ति है कि वह विचारों-भावनाओं के संघर्ष में सदा प्रगतिकामी प्रवृत्तियों का साथ देते रहे। खड़ी बोली के विकास में, विशेषकर उसको काव्य भाषा बनाने में, और हिन्दी को अनेक क्लासिकीय काव्य रूपों के अनुरूप ढालने में उनका योगदान अनन्य है। हिन्दी साहित्य के विकास की कड़ी में उनका इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि उसको तोड़ना इतिहास का अंग-भंग करने के समान है।

जो पीछे आ रहे उन्हीं का, मैं आगे का जय-जयकार

(मैथिलीशरण गुप्त का आत्मसंघर्ष और कविता)

—कमला प्रसाद

मैथिलीशरण गुप्त ने इस पंक्ति में अपने बारे में ठीक ही लिखा है। वे सच्चे जन प्रतिनिधि अगुवा कवि थे। जनता की बदलती हुई भावनाओं से उन्होंने कभी मुंह नहीं मोड़ा। रामचन्द्र शुक्ल उनके ही युग के नागरिक और आलोचक थे। वह उस युग के विचारबोध के निर्माण में तेजस्वी सहयोगी थे। वह गुप्त जी की विकास यात्रा के साक्ष्य रहे हैं, इसलिए उनकी राय का महत्व विशेष है। उन्होंने लिखा है, "गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है, कालानुसरण की क्षमता, अर्थात उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि वे निस्संदेह कहे जा सकते हैं" (हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. ५८८)। शुक्ल जी मैथिलीशरण गुप्त की विशेषता के मुख्य पहलू को रेखांकित करते हैं। वे स्थापित करते हैं कि कालानुसरण की दृष्टि से ही उनका युगीन प्रतिनिधित्व बनता है। अन्य गुणों की खोज गुप्त जी की कविताओं में की जायगी तो उनकी जगह प्रतिनिधि की नहीं बनेगी। काल का अनुसरण वह इसलिए कर सके क्योंकि अपने समय की घटनाओं से वे सीधे जुड़े थे। राजनीतिक-सामाजिक जीवन के उतार-चढ़ाव से उनका सोद्देश्य लगाया था। अपनी कविता को वे स्वतंत्रता संग्राम से जोड़कर रखना चाहते थे। वे इस दृष्टि से मौजूद का इतिहास लिखते जाते थे। जनता के प्रत्यक्ष भावबोध से उनकी संपृक्ति थी, इसलिए वह कई बार नेतृत्व से ज्यादा सही, प्रमुख तथा अग्रिम प्रवक्ता हो जाते थे। स्वतंत्रता संग्राम की अविराम घटनाओं का तात्कालिक दबाव जितना उन्होंने झेला, उतना किसी और कवि ने नहीं। आगे की जय-जयकार कहीं रुक न जाय, इसका ध्यान रखते-रखते अनुभवों को थिराने का अवसर उन्हें नहीं मिला। वे देखते थे कि अनुभवों को थिराने की छूट लेने वाले रचनाकार पिछड़ जाते हैं। गुप्त जी को निराला या प्रसाद का ऐसा काव्य-मार्ग नहीं भाया, या यह कहें कि उन्होंने उसे नहीं चुना। उन्हें अपने काव्य की भूमिका का ज्ञान था। कहते हैं, "मैं किसी क्षण अपने युग को नहीं भुला हूं। हमारी आज की रचनाएं आज का ही काम चला दें तो यही क्या थोड़ा है? कल के लिए आज की उपेक्षा करके ही हम, विशेष कर मेरे ऐसे जन, कौन अमर हुए जाते हैं?" (प्रेमचन्द की पहली बरसी पर दिया गया भाषण)।

गुप्त जी जैसे रास्ते पर अनेक कवि चले। जैसे—माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा "नवीन", रामधारी सिंह "दिनकर" आदि। वैसे इस रास्ते से अलग चलने वाले प्रसाद, निराला या लेखक-विचारक रामचन्द्र शुक्ल अपने युग से कटे हुए नहीं थे। ये तात्कालिक समस्याओं से टकराते थे, पर सब कुछ को रचना में ढालने का काम इन्होंने नहीं किया। वे प्रसंगों पर बार-बार सोचना चाहते थे। ये लोग नेतृत्व से असहमत भी होते थे। यह दिलचस्प है कि गांधी के असहयोग आन्दोलन के चरित्र पर तीखी टिप्पणी करते हुए सन १९२१ में रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि उससे पूंजीपतियों को फायदा होगा और गरीबों तथा मध्य-वर्ग की क्षति। इसलिए कि गांधी जी ने व्यापारियों को असहयोग के लिए नहीं कहा था। आज की परिस्थिति में यदि इन टिप्पणियों को परिणाम की दृष्टि से मिलाकर देखें तो यह बात सिद्ध दिखती है कि तब की बहुत सी अपरिभाषित नीतियां आगे चलकर कितनी दुखदायी होती गयी हैं।

मैथिलीशरण गुप्त की प्राथमिकता थी, स्वतंत्रता-संग्राम के लिए जन-मानस उत्तेजित करने की। अतीत का इस्तेमाल वे इसी उद्देश्य को पूरा करने के निमित्त करते थे। प्रसाद, निराला और रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अतीत का आधार लिया तथा गुप्त जी ने भी। फर्क इन लोगों की इतिहास दृष्टि में तो है ही, उसके इस्तेमाल में भी है। लम्बी बहस में न जाकर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शुक्ल आदि की भूमिका अधिक इतिहास सम्मत और गुप्त जी की भूमिका वर्तमान सम्मत है। तात्कालिकता गुप्त जी को काल के साथ दौड़ने को बाध्य करती है। वे अपनी भावनाएं बदलते हैं और काव्य प्रणाली भी। स्वतंत्रता प्राप्ति तक वे युग जागरण के समर्थ कवि बनकर जीते हैं, यही उनका वैशिष्ट्य है।

मैथिलीशरण गुप्त ने सन् १९०३ से लिखना शुरू किया था। शीघ्र ही उन्हें महावीर प्रसाद द्विवेदी का मार्गदर्शन मिलने लगा। "सरस्वती" में उनकी रचनाएं छपने लगीं। नवजागरण की समस्याओं पर द्विवेदी मंडली के बीच विचार मंथन चलता था। मित्रों से पत्रों में बहसें होती थीं। भारतीय सामाजिक मनोविज्ञान की खोज में इस युग के रचनाकार तल्लीन थे। पहली बार वर्तमान को समर्थ बनाने के लिए अतीत को समझने का एहसास पैदा हुआ। साहित्येत्तर क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वरूप की व्याख्या का काम विवेकानन्द, दयानन्द और रानाडे आदि करते थे। ये आधुनिक चेतना से अनुप्राणित थे। सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम की असफलता के नतीजों का विश्लेषण राजनीतिक क्षेत्र में होता था। अगली लड़ाई के पूर्व समूचे देश में जन भागीदारी के तरीकों की खोज हो रही थी। सामन्ती विकृत ढांचा अपने आप ध्वस्त होने की स्थिति में था। अंग्रेजों की अच्छाई-बुराई को लोग गौर से देखते थे। कहीं उनके प्रयत्न अच्छे लगते और कहीं उनकी बदनीयती साफ दिख

जाती । इस माहौल में मैथिलीशरण गुप्त की नागरिक जिम्मेदारी निर्धारित हुई । अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह उन्होंने कवि की तरह अधिक किया । सन् १९०५ में उनकी कविता "हेमन्त" छपी, सन् १९१० में "वीर रत्न बाजी प्रभु देशपाण्डे" तथा इसके कुछ समय पहले "व्यास स्तवन" । इन दोनों कविताओं में क्रमशः युद्धवीर और ज्ञानवीर दो नायकों का यश वर्णन है । "देशपाण्डे" वाली कविता में युद्ध की कथा है तथा नायक की वीरता के आदर्शों का चयन । "व्यास स्तवन" में उनके गुणों-आदर्शों का संग्रह है । "हेमन्त" कविता में उस ऋतु के प्रभाव से मनुष्य क्या अनुभव करता है, इसका वर्णन है । तीनों कविताओं को एक साथ पढ़ने के बाद उनकी काव्य यात्रा पर निगाह डालें तो प्रतीति होती है कि बीज रूप में गुप्त जी के काव्यगुण इन कविताओं में दिखने लगे थे । गुप्त जी आगे या तो उदात्त गुणों से युक्त नायक-नायिकाओं पर कविताएं लिखते हैं या समय, परिस्थिति, प्रकृति और समस्याओं को चित्रित करते हैं । ऐतिहासिक पौराणिक कथाओं को कविता में ढालते हैं या मानव मात्र के सर्वोच्च गुणों, आदर्शों, अनमोल वचनों का संग्रह कर कविता में पिरोते हैं । ये गुण नायक-नायिकाओं के माध्यम से व्यक्त होते हैं या संग्रह के रूप में भी । "भारत-भारती" के अतीत खण्ड में ऐसे अनेक पद हैं, जिनमें आदर्श गुणों का संयोजन है । उन दिनों आर्य समाज जिन गुणों का विवेचन करता था, वे सबके सब "भारत-भारती" में मिल जाते हैं । एक पद, उदाहरण के लिए, देखें :

थे कर्म्मवीर कि मृत्यु का भी ध्यान कुछ धरते न थे,
थे युद्धवीर कि काल से भी हम कभी डरते न थे ।
थे दानवीर कि देह का भी लोभ हम करते न थे,
थे धर्मवीर कि प्राण के भी मोह पर मरते न थे ।

कर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर—वीरों के लिए इन शब्दों के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से यह कविता बन गयी । इसी तरह आर्य, आर्यावर्त, हिन्दू, राम, कृष्ण, सीता, राधा, विष्णुप्रिया, यशोधरा आदि के साथ आदर्शों का कथन पर्याप्त मात्रा में हुआ है । कवि ने इन आदर्शों का चयन प्रायः लोकगाथाओं, इतिहास ग्रंथों, पुराण-उपनिषदों आदि से किया है । इतिहासधारा का बोध गुप्त जी के यहां उतना व्यवस्थित नहीं है । इतिहासधारा की कमजोर समझ के लिए गुप्त जी उतने दोषी भी नहीं हैं । दरअसल उन दिनों अतीत का अर्थ आम तौर पर "पुराणों, उपनिषदों, तथा महाकाव्यों" द्वारा वर्णित-प्रचारित वृत्तान्तों से लिया जाता था । पुराणों की भयानकता और रोचकता के भीतर छिपे सिद्धांतों की खोज नहीं हो पा रही थी । किन ऐतिहासिक सच्चाइयों को व्यक्त करने के लिए ये फन्तासियां बनीं—इसका विवेचन नहीं हुआ था । अतः पुराणों के वृत्तान्त ही सत्य की तरह फैले थे । अंग्रेज यहां आये और इतिहास ग्रंथों का अभाव पाया तो अपने हितों को ध्यान में रखते हुए इतिहास ग्रंथों का लेखन शुरू किया । सामन्तों द्वारा पालित

आचार्यों-उपदेशकों से उनकी संधि बनी । जवाहर लाल नेहरू का कथन सही है कि "हिन्दुस्तान में उनके लिए खुला मैदान था और वे उस तरक्की और परिवर्तन पर रोक लगाने में कामयाब हुए, जिसकी एक बड़े दायरे में वे नुमाइंदगी करते थे । हिन्दुस्तान के सामाजिक प्रतिक्रियावादी समुदायों को उन्होंने बढ़ावा दिया और उनकी स्थिति को मजबूत किया, और उन सब लोगों का, जो राजनीतिक और सामाजिक रद्दोबदल चाहते थे, विरोध किया । जो कुछ रद्दोबदल हुई भी, वह तो उनके बावजूद थी या वह उनकी दूसरी कार्यवाहियों के अचानक नतीजे की तरह थी" (हिन्दुस्तान की कहानी, पृष्ठ ३५७)। इस कथन को प्रमाणित करने वाली अंग्रेज लेखकों की भारतीय इतिहास, भाषा और संस्कृति को हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति, आर्य-अनार्य संस्कृति आदि पर लिखी पुस्तकें हैं । उन्होंने हमारी मिली-जुली जटिल सामाजिक संस्कृति को हिन्दू-संस्कृति, मुस्लिम-संस्कृति, आर्य-अनार्य संस्कृति आदि खानों में बांटा । वे हमें या तो अतीतवासी बनाते थे या जातीय स्वरूप को भुलाकर पश्चिमी रंग में रंगना चाहते थे । वे मिथकों की परम्परा से इतिहास की चेतना को गायब करने में दिलचस्पी रखते थे ।

मैथिलीशरण गुप्त कवि थे—इतिहासकार नहीं । इसलिए उन्होंने इतिहास चिन्तन के बजाए उन दिनों उपलब्ध टिप्पणियों पर भरोसा किया । राष्ट्रीय भावना के आवेश में उन्होंने जातियों और नायकों के बारे में अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों पर आशंका प्रकट नहीं की । वैष्णव संस्कारों की टकराहट अंग्रेजों की इतिहास दृष्टि से नहीं हुई । नयी परिस्थितियों में वे अंग्रेजों के प्रदूषण की पोल खोलते थे, पर इतिहास-संस्कृति विषयक उनके अनुसंधान का समर्थन करते थे । रेल, तार, डाक व्यवस्था और अन्य वैज्ञानिक-औद्योगिक सभ्यता लाने के कारण अंग्रेज उन्हें अच्छे लगते थे । वे यह नहीं देखते थे कि नवीनता के ये उपकरण वे अपने कारोबार को बढ़ाने के लिए लाये हैं । जनता की दुर्दशा के कारण अंग्रेजों पर आक्रोश और आधुनिक व्यवस्थित शासन प्रणाली लाने के कारण समर्थन—इस तरह विचारबोध और भावबोध के बीच आत्म-संघर्ष का यह तनाव गुप्त जी के आरंभिक जीवन का मुख्य अंग था । सामन्तवाद के खिलाफ संघर्ष के बारे में वे अपेक्षाकृत स्पष्ट थे । वे उस पर चारों ओर से हमला करते हैं । वे छोटी-मोटी विलास में डूबी रियासतों तथा उनके पतनशील जीवन मूल्यों को राष्ट्रीय एकता में बाधक मानते थे । अंग्रेजों ने सामन्ती प्रशासनिक इकाइयों को तोड़कर एक राष्ट्रीय इकाई का ढांचा बनाया, यह गुप्त जी को अच्छा लगा । वे अंग्रेजी शासन के बारे में कहते हैं :

शासन किसी पर जाति का चाहे विवेक विशिष्ट हो,
संभव नहीं है किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो ।
यह सत्य है, तो भी ब्रिटिश-शासन हमें सम्मान्य है,
वह सु-व्यवस्थित है तथा आशा-प्रपूर्ण व दान्य है ॥

स्पष्ट है कि कवि सामन्तवाद नहीं चाहता, अंग्रेजी शासन इस तुलना में ठीक है। वह अंग्रेजी शासन का विरोध सर्वांश इष्ट आजादी की कल्पना के संदर्भ में करता है। फिलहाल उसकी अल्पकालिक-आंशिक सहमति है—अंग्रेजी शासन के प्रति। देश की विपन्नता का प्रमुख कारण कवि हमारे खुद के पतन को मानता है। खुद का पतन यानी सामन्ती व्यवस्था का पतन हमें आत्मलोचन के लिए बाध्य करता है। अंग्रेज इस विपन्नता को बढ़ा रहे हैं। कच्चा माल ले जाते हैं और मशीन से सामान तैयार कर इतना महंगा बेचते हैं कि यहां के आदमी की क्रय क्षमता घटती जा रही है। गुप्त जी ने कविता में जो समाज के चित्र बनाये, उनमें अंग्रेजी शासन की नीचता दर्शाने में कोताही नहीं की। हां, उनकी स्मृति में रीतिकाल की जो भयावहता है, उसके एवज में इसकी कटुटरता अभी प्रकट नहीं दिखी। कवि अंग्रेजों से उनकी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नीति के कारण भी खुश है। इस खुशी को "भारत-भारती" के आधार पर समझा जा सकता है। कवि ने लिखा :-

विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहां विस्तार है।

* * *

यह पुण्यभूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी आर्य हैं,
विद्या, कला-कौशल्य सबके जो प्रथम "आचार्य" हैं।

यह कवि का संस्कारी विश्वास है। आर्यसमाज ने इसे पुष्ट किया। कवि ने पहली बात के साक्ष्य की याद टिप्पणी में, पुराणों (सामान्य रूप से बिना संदर्भ) टाड राजस्थान, इंजील और कुरान, सर वाल्टर रेले का इतिहास—के हवाले दिये। दूसरी बात के लिए 'मनुस्मृति' का उद्धरण दिया। इसके अलावा स्थान-स्थान पर पुराणों तथा अंग्रेजों द्वारा लिखे इतिहास ग्रंथों और आलेखों से अपने काव्य कथनों को पुष्ट करते हुए आर्यों की वरीयता प्रमाणित की गयी है। मसलन ब्राउन को एक स्थान पर उद्धृत किया है। उद्धृत शब्द हैं, "यदि हम पक्षपात रहित होकर भलीभांति परीक्षा करें, तो हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू ही सारे संसार के साहित्य, धर्म और सभ्यता के जन्मदाता हैं।" अब यदि ब्राउन यह श्रेय भारतीयों को देते तो बात क्या बिगड़ती ? शायद उनका लक्ष्य पूरा न होता। वे हिन्दू शब्द पर जोर देना चाहते हैं। वे हिन्दू और इतर जातियों में अलग-अलग राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करने को उत्सुक हैं। उल्लेखनीय यह है कि आर्यसमाजी विश्वास और वैष्णवी संस्कारों से अंग्रेजों की इस दृष्टि से प्रशंसा तक करते हैं। शुक्ल जी ने अंग्रेजों की चालाकी को समझ लिया था। उन्होंने आगाह किया था कि हम अपनी रूढ़ आध्यात्मिकता और रहस्यवाद की तारीफ विदेशियों के मुंह से सुनकर गुमराह न हों। ये मूल्य अग्रगामी नहीं हैं। यह विचित्र लगता है कि अंग्रेज विज्ञान युग के नागरिक होकर हमें पुरानी दुनिया में बनाए रखने में दिलचस्पी लेते थे। वस्तुतः इससे उनके वर्गीय हित सधते थे। मैथिलीशरण गुप्त का आत्मसंघर्ष ही यह है

कि वे वैष्णव संस्कारी विचारों से आर्य समाजी होते हुए राष्ट्र भक्ति की दिशा में आगे बढ़े थे। राष्ट्र भक्ति की भावना में जहां तक दूसरी बातें बाधक नहीं बनीं, वहां तक उनका सहयोग चलता रहा, पर जैसे ही उन्हें उनकी सीमाएं मालूम पड़ीं, कवि ने अपनी चेतना को आगे बढ़ने दिया। अपनी मिथकीय रुचि और गतिशील जीवन दृष्टि के द्वन्द्व में उन्होंने रुचि को बदला। अंग्रेज यद्यपि रुचि और संस्कारों को स्थिर करना चाहते थे, पर गुप्त जी लांघते गये। वे अंग्रेजों की कूटनीति का शिकार होकर साम्प्रदायिक नहीं हुए। उनका भाव-बोध नये आलोक से प्रकाशित होता गया।

मैथिलीशरण गुप्त ने प्रायः अनेक कृतियों में, विशेष रूप से "भारत-भारती" और "हिन्दू" में बार-बार "आर्य" तथा "हिन्दू" शब्दों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों के पीछे जो भावधारा है, वह संकीर्ण नहीं है। उन दिनों ये शब्द आज की तरह बदनाम भी नहीं थे। इनके बदनाम होते जाने की अलग सामाजिक कहानी है। गुप्त जी इन शब्दों के द्वारा अपनी जातीय पहचान व्यक्त करते हैं। इसकी जरूरत इसलिए पड़ी क्योंकि उसके मिटाने के सायासिक प्रयत्न हो रहे थे। लीग और मिशनरियां धर्म और जाति परिवर्तन के व्यवसाय चलाती थीं। इनके अलावा अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को सहयोगी बनाकर अंग्रेज यहां के लोगों में हीन ग्रंथि पैदा करते थे। इस प्रभाव से बहुत लोग अपनी अस्मिता भूलकर अंग्रेजी संस्कृति ओढ़ रहे थे। शुक्ल जी अपने लेखों के जरिए इसे रोकते थे। कहते थे, पश्चिम से नया ज्ञान लो, स्वरूप मिटाने की कोशिश खतरनाक होती है।

गुप्त जी के काल में जागरूक लोगों के मानस को अस्मिता के विलोपन का संकट मथ रहा था, इसलिए अपने-अपने तर्क से लोगों ने उसे बचाने का प्रयास किया। गुप्त जी और शुक्ल जी ने हिन्दुत्व की उदात्तता प्रस्तुत की ताकि उससे शिकायतें दूर हो सकें। यह पुनरुत्थानवादी कोशिश थी। आगे यह कोशिश प्रसाद और निराला तक चलती रही। आधुनिकता की अवधारणा ज्यों-ज्यों सुलझती गयी, पुनरुत्थानवाद की कमजोरियां छूटती गयीं। गुप्त जी ने अतीत का गुण गायन खूब किया है। उनके गायन पर भरोसा किया जाय तो वह पुरानी दुनिया बहुत मोहक थी। गुप्त जी का अतीत विवेचन वास्तव में अपनी राष्ट्रीय पहचान का विश्लेषण है। उनकी एक किताब है—"पत्रावली"। उसमें ऐतिहासिक आधार पर लिखित कुछ पद्यात्मक पत्र हैं। मसलन, महाराज पृथ्वीराज का पत्र महाराना प्रताप के नाम, प्रताप का पत्र पृथ्वीराज के नाम। शिवाजी का औरंगजेब को और औरंगजेब का अपने पुत्र को। इसके अलावा तीन श्रेष्ठ नारियों महारानी सीसोदनी, महारानी अहिल्याबाई, और रूपवती के पत्र हैं। इनमें हिन्दुओं की आन-बान-शान की स्मृतियां हैं। "गुरुकुल" कृति में सिख गुरुओं की धर्म-निरपेक्षता का स्तवन है। अजित, चन्द्रहास, नहुष, प्रदक्षिणा, सिद्धराज,

जयद्रथ बध और साकेत जैसी कृतियां वीर नायकों की वे विशेषताएं उभारती हैं—जिनकी उस समय जरूरत थी। ये स्मृतियां अपने सम्मिलित प्रभाव से समाज को आगे ले जाती हैं, प्रतिगामी नहीं बनातीं।

हिन्दू शब्द की आज की अर्थ योजना साम्प्रदायिक है। वह प्रतिगामी तथा मुसलमान-विरोधी है। इस अर्थ संयोजन से अनेक विकृतियां पैदा हुई हैं। उत्तर-दक्षिण के झगड़े को कुछ लोग आर्य-अनार्य, या हिन्दू-गैर-हिन्दू के झगड़े में बदलते हैं। राम और रावण को अपने-अपने नायक सिद्ध करने की कोशिश होती है। उससे जुड़कर भाषा का विवाद उग्र होता है। विवाद के मूल में कई बार अंग्रेजी भाषा तथा साम्राज्यवादी पूंजी की अपनी रक्षा होती है। तमाम बातों को साम्प्रदायिक रंग में घोल लेने में देश-विदेश की अनेक शक्तियां सहायक हो जाती हैं। हिन्दू-सिख संघर्ष के चरित्र को देखकर हम आसानी से इस बात को समझ सकते हैं। हमारे महादेश में साम्प्रदायिकता केवल हिन्दुओं की नहीं है, यह सही है। हिन्दू, सिख, मुसलमान, तथा और भी कौमों में ये दोष मिलेंगे, पर बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता में अन्तर होता है। बहुसंख्यकों में अपनी जाति का दंभ होता है, जबकि अल्पसंख्यकों में असुरक्षा, आशंका एवं भय। साम्प्रदायिक जातियां जब अपनी व्याख्या करती हैं, तब शब्दों के व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ करती हैं—जैसे सिन्ध, हिन्द, हिन्दुस्तान—हिन्दुस्तान के वासी हिन्दू—पर व्यवहार में कट्टर होकर दूसरी कौमों की शत्रु हो जाती हैं। देखना यह है कि गुप्त जी इन प्रसंगों में क्या सोचते हैं? गुप्त जी ने "काबा-कर्बला" पुस्तक लिखी थी सन् १९४२ में, जब साम्प्रदायिक अशांति का वातावरण बनाया जा रहा था और "भारत-भारती" सन् १९१२ में जब हिन्दू-मुसलमान में आम तौर पर परस्पर सद्भाव था। दोनों में तीस वर्षों का अन्तर है। गुप्त जी ने उमर खय्याम का अनुवाद किया था। "काबा-कर्बला" की भूमिका में वे प्रेमचन्द की इस खोज के लिए खुशी जाहिर करते हैं कि हजरत हुसैन के साथ दासों की मुक्ति के संघर्ष में हिन्दुओं और मुसलमानों ने सम्मिलित आत्माहुति दी थी। उनके मार्ग के अनुसरण पर अकेले एक कौम का हक कैसे हुआ। हजरत हुसैन ने दासों को एकता के सूत्र में बांधा था। जाति और धर्म के विभाजन वहां नहीं थे—तब अनुयायियों में ये झगड़े कैसे आए? उनके अनुसार स्वजाति के भी अनुचित और अनीति का विरोध किया जाना चाहिए—तब इसे क्यों छोड़ दिया गया? "गुरुकुल" में उन्होंने कहा था—

हिन्दू हो या मुसलमान हो, नीच रहेगा फिर भी नीच।

उन्होंने मनुष्यता को सबसे ऊपर बताया। गुप्त जी मनुष्यता के रक्षक हिन्दू-मुसलमान दोनों राजाओं की तारीफ करते हैं, "भारत-भारती" में ही लिखते हैं--

कम कीर्ति अकबर की नहीं, सत्शासकों की ख्याति में,
शासक न उसके सम सभी होंगे किसी भी जाति में।
हो हिन्दुओं के अर्थ हिन्दू, यवन यवनों के लिए,
हठ, पक्षपात तथा दुराग्रह दूर उसने थे किये।

हिन्दू हिन्दुओं के लिए और मुसलमान मुसलमानों के लिए, यह भावना खतरनाक है। कोई दाता अपने कठोर कर्मों के कारण बदनाम होता है, तो उसके लिए समूची जाति को नहीं लपेटना चाहिए। कुछ हिन्दुओं ने इसी लपेट में मुसलमानों को ले लिया और किसी हिन्दू की संकीर्णता देखकर मुसलमान भाइयों ने पूरी जाति को साम्प्रदायिक मान लिया—गुप्त जी इसी से बेचैन थे। उन्होंने जगह-जगह इसके लिए आगाह किया। उन्हें इस बात से आपत्ति नहीं थी कि दोनों कौमें अपनी-अपनी गौरवशाली परम्परा का स्मरण करें। "भारत-भारती" की रचना गुप्त जी ने सहयोगी भावना से की थी। हाली ने अपनी परंपरा को गौरव दिया "मुसद्दस" में तो उसी को लक्ष्य करके उन्होंने हिन्दुओं के गौरव का बखान किया—"भारत-भारती" में। इस सीख के लिए गुप्त जी ने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए लिखा, "हाली और कैफी के मुसद्दसों से भी मैंने लाभ उठाया है, इसलिए उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं।" दोनों कवि अपनी-अपनी परम्पराओं का गौरव दर्शाते हैं—एक राष्ट्रीय भावबोध के भीतर। दोनों में अंतरंजनाएं हैं, पर उद्देश्य है—पराजित कौमों को झकझोरना। आपस में दोनों कवियों में शानदार मित्रता का बोध है। उल्लेखनीय है कि गुप्त-हाली मैत्री के इस आलम में ही "सरस्वती" में महावीर प्रसाद द्विवेदी का लेख "कवि और कविता" छपा जिसमें उन्होंने कहा—"उर्दू का साहित्य समूह हिन्दी से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। इस बात को कबूल करना चाहिए। हिन्दी के हितैषियों को उचित है कि हिन्दी साहित्य को उन्नत करके उसकी लाज रखें। उर्दू में इस समय अनेक विषयों के कितने ही ऐसे ग्रंथ विद्यमान हैं, जिनका हिन्दी में नाम तक नहीं। उर्दू लेखकों में शम्सुल-उल्मा हाली, आजाद जैसा उल्ला, नजीर अहमद आदि की बराबरी करने वाला हिन्दी में शायद ही कोई हो। इन साहित्य सेवियों ने उर्दू के ज्ञानसागर को खूब समृद्धशाली कर दिया है। हिन्दी वालों को चाहिए कि वे उन लोगों की पुस्तकें पढ़ें और वैसी ही पुस्तकें हिन्दी में लिखने की कोशिश करें।" गौर करने की बात है कि सीखना और लिखना अलग है, नकल अलग। नकल का विरोध शुक्ल जी भी करते हैं। भड़की नकल का वे एक उदाहरण देते हैं—"भारत वर्ष की भुवन मोहिनी छटा से मुंह मोड़कर शीराज और इस्फहान की ओर लौ लगाए थे, गंगा-जमुना के शीतल शांतिदायक तट को छोड़ कर इफरात और दजला के रेतीले मैदानों के लिए लालायित हो रहे थे, हाथ में आलिफ लैला की किताब पड़ी रहती थी, एक झपकी ले लेते थे तो अली बाबा के अस्तबल में जा पहुंचते थे। हातिम की सखावत के सामने कर्ण

का ज्ञान और युधिष्ठिर का सत्यवाद भूल गया था । शीरीं फरहाद के इश्क में नल दमयन्ती के सात्विक और स्वाभाविक प्रेम की चर्चा बंद कर दी थी" । (चिंतामणि, भाग-३, पृ. ७१) यह एक प्रवृत्ति थी, जो उन दिनों कई हलकों में जोर मार रही थी । अपने स्वरूप की पहचान मिटती थी इससे । भला न पर संस्कृति का होता था और न अपनी । गुप्त जी का मत है—

क्या साम्प्रदायिक भेद से है ऐक्य मिट सकता अहो ।
बनती नहीं क्या एक माला विविध सुमनों से कहो ? (भारत-भारती)

गुप्त जी रूढ़िवादी मुसलमानों को समझाते हैं कि इतने दिनों बाद तो वे इस देश को अपनाएं । वह कहते हैं कि दोनों कौमें एक नौका में सवार हैं । दोनों के सुख-दुख और हित जुड़े हैं । उनके शब्द हैं "हिल-मिलकर रहने में श्रेय," "मन से मिटे द्वेष का दंभ, न लें तीसरा दो का लाभ" या "हिन्दू-मुसलमान की प्रीति, मेटें मातृभूमि की भीति"। ये पंक्तियां उस किताब में हैं, जिसका शीर्षक "हिन्दू" है । यही कवि का लक्ष्य है । दिक्कत यह है कि दोनों कौमों के तत्ववादी इस लक्ष्य को पाने नहीं देते । गुप्त जी कहते हैं :

तुम निज हेतु करो सब कर्म, और छोड़ दें हम निज धर्म ?
अथवा "देखो अरब और ईरान, आप हो रहे हैं वीरान ।

यहां झगड़ा क्या है ? क्रिया-प्रतिक्रिया का आवेश है यह । एक दूसरे को हीन मानने की हड़बड़ी । मानवीय व्यवहार से परिचित लोग जानते हैं कि हड़बड़ी या आवेश में कही गयी बातें अथवा क्रिया-प्रतिक्रिया की उक्तियों से किसी का जीवन-दर्शन व्यक्त नहीं होता । अधिक से अधिक वह आवेश में आने के लिए दोषी हो सकता है । उसके निहितार्थ को समझने के लिए उन स्थलों को देखना होगा, जो लक्ष्य बोधक हैं, जहां कवि सामान्य उपदेश की वृत्ति अपनाता है । कवि का निहितार्थ "हाली-गुप्त" शैली में है । अंग्रेज विदेशी हैं । हम आपस के झगड़े का लाभ उन्हें न होने दें । हमें एक होना है ।

बीसवीं शताब्दी के पहले दशकों में हिन्दू-मुसलमान एकता को भंग करने का काम धर्म के अलावा "भाषा" के सवाल के जरिए ही होता था । एक ओर ब्रज, अवधी, अंग्रेजी से टकराती हुई हिन्दी ढल रही थी, दूसरी ओर अरबी-फारसी के अतिवाद की भीतरी लड़ाई उसे झेलनी पड़ती थी । स्वाभाविक रूप से ढल रही हिन्दी में देशी भाषाओं के शब्दों की परम्परा के अलावा अरबी-फारसी की शब्द परम्परा भी शामिल थी । फारसी के शब्दों का चलन हिन्दुओं की ओर से टोडरमल के जमाने में शुरू हुआ था । तब मुसलमान कवि भारतीय छन्दों में हिन्दी में कविताएं लिखते थे । बाद में ऐसे लोग आए जो ढल रही भाषा से अपनी साम्प्रदायिक इच्छाओं के अनुसार अरबी-फारसी या देश भाषाओं के शब्द निकालकर अप्रचलित संस्कृत के शब्द या अरबी-फारसी के शब्द डालने लगे । संस्कृतनिष्ठ हिन्दी और अरबी-फारसी निष्ठ उर्दू को प्रश्रय

मिला । द्विवेदी-गुप्त-शुक्ल युग में अंग्रेजी भाषा वैज्ञानिकों ने इस तरह की साम्प्रदायिकता को बढ़ाया । उन्होंने कौमों की छोटी-छोटी आपसी दरारों को बड़ा किया । शुक्ल जी उन दिनों कहते थे कि दोनों कौमें एकता के आधार सैद्धान्तिक आधार पर खोजें, राजनीतिक दृष्टि से फुसलाने के लिए नहीं । जब उनकी यह बात असर डालने में असमर्थ दिखी तो जिद की भाषा में आवेश के साथ उन्होंने भी कहा—"हम हिन्दू हैं, हिन्दुस्तान हमारा देश है, हिन्दी हमारी भाषा है । इस भाषा में अवश्यमेव हिन्दुओं के आचार-विचार का आभास रहेगा, उसमें उनके प्राचीन गौरव की गंध रहेगी । कूढ़ने वाले भले ही कूढ़ें । वह सहायता के लिए भरसक संस्कृत ही का मुंह देखेगी । मुट्ठी भर मुसलमानों के लिए हम कदापि अपनी भाषा को लांछित न करेंगे । यदि मुसलमान लोग इसे नहीं समझना चाहते तो न समझें हमारी कोई हानि नहीं । मुसलमान लोग तो तनिक भी शीनकाफ के बाहर न हों और हम भोंदू बने उनके पास खिसकते जाएं, ऐसी कौन आफत आई है । यह भी कोई राजनीतिक युक्ति नहीं है कि एक तरफ तो मुसलमान लोग ऐंठे जा रहे हैं, दूसरी तरफ हमारे मानवीय लोग अपनी मधुर वक्तृताओं में उन्हें लपेटते जाते हैं ।" (चिंतामणि, भाग-३, पृ. ७२)

आचार्य शुक्ल कहना चाहते हैं कि संकीर्णताएं दोनों कौमों में हैं । अतः उदारता केवल एक ओर से फलदायी नहीं होगी । गुप्त जी इस आशय से सहमत थे । ये लोग सैद्धान्तिक समाधान चाहते थे, जो नहीं हुआ । प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में समाधान का व्यवहार प्रस्तुत किया, पर कांग्रेस ने उसे टाल दिया । इसी बीच दुनिया में प्रथम विश्व युद्ध के बाद सोवियत क्रांति की घटना घटी । मजदूरों-किसानों का आत्मविश्वास इस घटना से बढ़ गया । हिन्दुस्तान में भी वे संगठित होने लगे । अधिकारों की मांग के लिए हड़तालें शुरू हुईं । साम्राज्यवादी-सामन्तवादी ताकतें इससे घबरा गयीं । धर्म और भाषा के जरिये लोगों को बांटने की उनकी योजनाएं और तीव्र हो गयीं । उनके बजट में इस काम के लिए अधिक प्रावधान किया जाने लगा । उसके बाद आप देखें कि हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक संगठन व्यवस्थित रूप से दंगों की कार्यवाही में उतर आए । दोनों की परंपराओं में कर्मकाण्ड का प्रभाव बढ़ाया जाने लगा । कालान्तर में वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न लोगों ने जब दंगों का विवेचन किया तो इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बहुसंख्यक जाति को दंभ के बजाए असुरक्षाबोध से आतंकित अल्पसंख्यकों को विश्वास में लेने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे दोनों कौमों के तत्ववादी अलग-थलग पड़ें । उनके साथ जनता नहीं होगी । यह धारणा शक्तिशाली नहीं बन पायी, इसलिए देश का विभाजन हो गया और उसी छाया में भयानक नर संहार । आजादी के बाद भी प्रतीक्षा है कि साम्प्रदायिक भावनाएं सैद्धान्तिक आधार पर हल की जाएं । हल नहीं होतीं, इसलिए गुप्त जी के साहित्य में से उनकी लक्ष्यबोधक कविताओं के बजाए

आवेश में लिखी गयी बातें, जिद्दों की टिप्पणियां और पराजित जनता को जगाने के लिए लिखी अंतरंजनाएं उद्धृत करते हैं। गुप्त जी की रुचियों और संस्कारों को देखते हैं, यह नहीं कि उनके गतिशील विचारों ने स्वयं उन्हें ही कितना बदल दिया था। उनकी नयी राह का उचित मूल्यांकन नहीं होता। इसी मूल्यांकन के अभाव में हम वैसे ही बने हैं, जैसे क्रांतिकारी कबीर की मृत्यु के बाद यह याद रख पाए कि वे हिन्दू थे या मुसलमान। "भारत-भारती" के भविष्य खण्ड में गुप्त जी ने देश-वासियों को शुभकामनाएं दी हैं :

विद्या, कला, कौशल्य में सबका अटल अनुराग हो,
उद्योग का उन्माद हो, आलस्य अछ का त्याग हो।
सुख और दुख में एक-सा, सब भाइयों का भाग हो,
अंतःकरण में गूंजता राष्ट्रीयता का राग हो।

औद्योगिक क्रांति, संस्कृति में सार्वजनिक भागीदारी, सुख-दुःख में सहभागिता तथा राष्ट्रीयता की अनुगूंज—यह कवि की चाह है। यह चाह आजादी के इतने वर्षों तक पूरी नहीं हुई।

मैथिलीशरण गुप्त भारतीय नवजागरण की पहली बेला के कवि हैं। जब उन्होंने कविता लिखनी शुरू की, तब उनका संघर्ष रीतिकालीन कवियों से हुआ। एक आरम्भिक कविता का अंश है—

प्रिय चन्द्र वदन की, चटक नहीं हो जिसमें,
नागिन-सी लट की लटक नहीं हो जिसमें,
भृ और दृगों की मटक नहीं हो जिसमें,
मन्मथ महीप का कटक नहीं हो जिसमें,
उसकी कविता ही नहीं आप बतलाते,
कविराम आपके चरित न जाने जाते।

गुप्त जी कविता को रीतिवाद से मुक्ति दिलाना चाहते थे। उन्हें पता था कि यह सामंतवाद का विकृत साहित्यिक संस्करण है, अतः गुप्त जी दोनों के विरोधी थे। सामन्तवाद के टूटने से जो नया जनतंत्र बनेगा—उसकी व्यवस्थित कल्पना उनके मन में न थी इसलिए रामराज्य से उसे मिलाते थे। कांग्रेस के अधिकांश नेताओं का भी यही हाल था। गुप्त जी, रीतिमुक्त कविता कैसी होगी, इस पर सोचते रहते थे। मित्रों से पत्राचार और बातचीत में उसे कहते थे। स्वतंत्र या समीक्षात्मक निबन्धों में उनका सोच झलकता है। गुप्त जी की कविता भी विचार कविता (आइडिया पोयट्री) है। वे विचारों को कविता में व्यक्त करते रहे हैं। इसका उन्हें माद्दा हो गया था। इसीलिए उनकी कविता से उद्देश्य खोजना आसान है। कविता में उनके रीतिवाद-विरोधी विचार भरे पड़े हैं। प्रारंभिक काल में उनका एक समीक्षात्मक लेख, जगन्नाथ प्रसाद भानु की रीतिवाद पोषक पुस्तक "काव्य प्रभाकर" पर छपा था। यह बहुत विदग्ध लेख है। भानु जी ने अपनी तारीफ में लिखा था कि उन्होंने दादरों में नायिका भेद लिखा है—जो नया प्रयोग है। गुप्त जी ने उन्हें यह कहकर

करारा जवाब दिया कि मौलिकता नवीन दृष्टि और वस्तु पक्ष में निहित होती है, रूप पक्ष में उतनी नहीं। वह कहते हैं कि नयी आलोचना पुस्तक में नायिका भेद की जरूरत नहीं है, उसमें "काव्य का प्राचीन इतिहास, वर्तमान समय में काव्यावनति का कारण, काव्य से लाभ और काव्य निर्माण के कारण इत्यादि" पर विचार होना चाहिए। उन्होंने रचना के हेतुओं में रीतिवादियों के प्रिय हेतु "अभ्यास" का मजाक बनाया और "प्रतिभा" को प्रतिष्ठा दी। रीतिकालीन काव्य भाषा के बारे में लिखा, "शब्द सम्बन्धिनी विभूति उसमें अवश्य है, पर उच्च भावों की सहानुभूति विरल है। लोकानुभूति तो और भी विरल है। फिर कहिए कोरी विभूति को लेकर क्या करें? आप बड़े सम्पत्तिशाली हैं, परन्तु यदि जन साधारण के साथ आपके हृदय में सहानुभूति नहीं तो उस सम्पत्ति से उन्हें क्या लाभ? इसी कारण से हमारी कविता का सम्बन्ध सर्वसाधारण के साथ न रह सका।"

गुप्त जी रीतिवाद का विरोध करते हुए अपनी काव्यगत मान्यताएं भी व्यक्त करते जाते हैं। उनके प्रमुख काव्य मूल्य हैं : अतीत की गरिमा का बोध, समय से राग, उदात्त भावों का समावेश तथा जन-साधारण के साथ संपृक्ति। इन मूल्यों को निर्जीव भाषा व्यक्त नहीं कर सकती। नये काव्य की भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही हो सकती है। जन-साधारण से गहरी संपृक्ति के कारण गुप्त जी को भक्तिकालीन कवि पसन्द हैं। वे उनसे सीख कर अपने समय की कविता हिन्दी में लिखते हैं।

रीतिवाद-विरोधी कवि साम्प्रदायिक हो नहीं सकता। रीतिवाद और सम्प्रदायवाद कारण-कार्य हैं। रीतिवाद, रूढ़िवाद, तत्ववाद, एक ही सिक्के के अलग-अलग रूप हैं। साम्प्रदायिकता इन्हीं की कोख से उपजती है। नयी साम्प्रदायिकता में साम्राज्यवाद का भी सहयोग होता है। उदाहरण के लिए, स्त्री के बारे में रीतिवाद और साम्राज्यवाद के व्यवहार में ज्यादा अन्तर नहीं आया। गुप्त जी अपनी रचनाओं में स्त्री के खोये गौरव को वापस लाते हैं। उसे दासी और सेविका के रूप में मुक्ति दिलाते हैं। वह स्वाभाविक प्रेम का रस पहचानने लगती है। वह जीवन का केन्द्रीय चरित्र बनती है। आंचल में दूध और आंखों में पानी भरे वह केवल अबला न रहकर सक्रिय नागरिक बनती है। "विष्णु प्रिया" में नारी यह कहने का साहस अर्जित करती है :

नारी पर नर का कितना अत्याचार है।
लगता है विद्रोह मात्र ही अब उसका प्रतिकार है।

प्रतिकार का साहस नारी में आ गया, यह आधुनिक चेतना है। नारी कहती है कि वह केवल वासना का साधन नहीं है। वह मां, बेटी, बहन, पत्नी भी है। प्रेम केवल शरीर भोग नहीं है, वह जीवन का निर्मल आचरण है। गुप्त जी की नारी स्वीकारने और त्यागने का अधिकार केवल पुरुष को नहीं लेने देती।

"रत्नावली" की रत्नावली के शब्दों में—

त्यागा नर ने हाँ नारी को ।
मैं इसका उल्टा कर बैठी, धिक हूँ मुझ मतिहारी को ।

सामन्तवाद भला इसकी कैसे इजाजत देता कि नारी पुरुष को त्याग दे । प्रश्न है कि इस त्याग का चरित्र कैसा है ? दरअसल, यह प्रकृतिगत संघर्ष है । गुप्त जी की नारियां प्रेम से पुरुषों को भोग से उबारकर लोकोन्मुख बनाती हैं । यशोधरा, उर्मिला और रत्नावली—ये नायिकाएं अपने पतियों को स्वेच्छा से जनसेवा के लिए भेज देती हैं । वे विरहिणी अबला होने के बजाए गृहस्थी के सारे कार्य करती हैं । पति की अनुपस्थिति में प्रेम की भावनाओं में रमती हैं, तथा उपस्थिति में मात्र भोग्या बनने से इन्कार करती हैं । यशोधरा, सिद्धार्थ के बुद्ध हो जाने के बाद भी औरों की तरह उनकी पूजा करने नहीं जाती । अपने त्याग को कम मानने को तैयार नहीं है । अन्ततः बुद्ध को स्वयं यशोधरा के पास आना पड़ा । क्षमा मांगनी पड़ी । गुप्त जी की निगाह में यह प्रेम का प्रकृत पथ है, जिसमें स्त्री-पुरुष, परिवार, जनता तथा राष्ट्र के प्रेम में कोई द्वैत नहीं है । यह उस युग का नया संदेश था ।

गुप्त जी की एक पुस्तक है "हिडिम्बा" । पाण्डवों की प्रवास कथा से उसका सूत्र बना । राक्षसी हिडिम्बा और भीम में परस्पर प्रेम जाग गया, पर राक्षस-मनुष्य कुलों के विवाह नियम विरुद्ध होने से बाधा आ गई । कुन्ती की इजाजत नहीं थी । हिडिम्बा बहस करती है—एक आसमान, धरती, पानी, वायु और अग्नि के पाले-पोसे होकर मनुष्य-राक्षस का झगड़ा सदा के लिए क्यों है ? सब राक्षस रावण और मनुष्य राम स्थायी रूप से कहां होते हैं ? आगे कहती है—"शतधा विभिन्न हुई एक मूलधारा है" अतः "दोनों का समन्वय तो शेष है यहां अभी ।" हिडिम्बा के प्रखर तर्कों के सामने पाण्डवों के संस्कार ध्वस्त हो गये । कुन्ती राजी हुई और विवाह हो गया । यह वैष्णव संस्कारी गुप्त जी का वैचारिक संघर्ष है । उसी संघर्ष के चलते कवि को बंगला के माइकेल मधुसूदन दत्त की कृति "मेघनाद वध" अच्छी लगी और अनुवाद किया । अनूदित पुस्तक की भूमिका में लिखा, "हम लोगों ने भारतवर्षीय कवियों द्वारा वर्णित रामचरित बहुत पढ़ा सुना है । अब राक्षसों के कवि की कृति भी तो हमें देखनी चाहिए ।" राक्षसों का कवि यहां माइकेल हैं क्योंकि उसने राम और उनकी सेना को आततायी कहा था । अब गुप्त जी ने राक्षसों के कवि को पढ़ने के लिए हिन्दी भाषी जनता के लिए अनुवाद कर दिया ।

हिन्दी के विरले पाठक होंगे जिन्होंने गुप्त जी की सारी कृतियां पढ़ी हों, शोध छात्रों के औपचारिक अध्ययन की बात अलग । यह कहने की जरूरत इसलिए पड़ी क्योंकि किसी ने उनकी कृति "पृथ्वीपुत्र" का जिक्र नहीं किया । यह कृति सन १९५० में छपी । इसमें तीन रचनाएं सम्मिलित हैं : 'दिवोदास', 'जयिनी' तथा 'पृथ्वीपुत्र' । दिवोदास एक राजर्षि हैं, जो देवताओं को अपने राज्य से निकाल देता है । पत्नी से कहता

है—"आओ मिलकर करें राष्ट्र के लिए कठिन भी कृत्य" । यह दुर्लभ चरित्र वाली कथा संस्कृत साहित्य से है । जयिनी कार्ल मार्क्स की पत्नी है । पति-पत्नी का निर्मल प्रेम जगत प्रसिद्ध हो चुका है । मार्क्स के विचारों से आधी दुनिया प्रभावित है । उसे जीवन दर्शन की तरह चुना है । जयिनी और मार्क्स का दाम्पत्य, मार्क्स के विचारों के निर्माण में अहम भूमिका अदा करता है । गुप्त जी ने जयिनी के बहाने आदर्श दाम्पत्य और मार्क्स के विचारों की उदात्तता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । जयिनी पुस्तक के अन्त में कहती है :

मैं धनियों को भावदान दूं, तुम दीनों को भाषा,
सत्य सभी सह सकें तुम्हारा, यह मेरी अभिलाषा,
रहें शुभाषा धारे ।
चलो चलें हम प्यारे ।

इस नमूने से ही जाहिर है कि कवि मार्क्स के सिद्धांतों में निहित लक्ष्य को अपने देश में पाना चाहता है । उसकी कामना है कि लोग मार्क्स के कड़वे सत्य को सहन कर सकें । ये कविताएं उसने आजादी के बाद लिखीं । लगता है कि गांधीवाद को छोड़ते जा रहे कांग्रेसी नेतृत्व को देख फिर उस रास्ते की सीमाओं का बोध होने के बाद ये कविताएं लिखी होंगी । यहां एक बात और ध्यातव्य है कि सन १९५० में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के गैर-कानूनी घोषित किये जाने के समय में ये कविताएं सामने आई थीं ।

मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रकवि हैं । उनकी चेतना राष्ट्रीयता के लिए समर्पित रही है । चूंकि यह बोध कोई जड़ वस्तु नहीं है । वह वस्तुगत परिस्थितियों के मुताबिक परिवर्तनशील है । अतः इस तरह की परिवर्तनशीलता गुप्त जी के राष्ट्रीय भावबोध में मिलती है । उन्होंने अपने युग के जन आन्दोलनों से रस ग्रहण किया है । उनकी वैष्णव भावना का प्रभाव आगे कर्मक्षेत्र में कम होता गया है । उनके आचरण को सात्विक बनाये रखने में वह भावना संपृक्त बनी भी रही तो उसमें उन्हें काम में बाधा का अनुभव नहीं हुआ । देश के स्वरूप की खोज, पुनर्खोज के लक्ष्य को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा । उन्होंने देश के भीतर स्वाभिमानी पुरुष और नारियों का मान बढ़ाया है । चरित्र प्रधान काव्यों के रचयिता के रूप में वे विशेष कवि हैं । उनके नायक पथ-प्रदर्शक और मनुष्यता से भरपूर थे । वे स्वर्ग को भूतल पर उतारने के संघर्ष से युक्त थे । आत्मरक्षा से पहले, "हैं स्वदेश रक्षा कर्तव्य" (प्रदक्षिणा) की प्रेरणा गुप्त जी के नायकों की थी । आजादी के बाद देश में वे ऐसा ही चाहते थे । जब उनकी इच्छा पूरी होती न दिखी तो १९५६ में "राजा-प्रजा" काव्य लिखा । उसमें अपने मन के उद्गार व्यक्त कर दिये :

जन, समष्टि में रमो, व्यष्टि को विकसित करके,
निज हित होगा, स्वयं सफल सबका हित करके ।

नहीं रहा संकीर्ण और अब राज्य हमारा,
वह विराट हो गया राष्ट्र बाला के द्वारा ।

मैथिलीशरण गुप्त उदार व्यक्ति थे । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनके बारे में "उदार वृत्ता:" कहा ही था । उनकी जिद एवं जातीय दम्भ से युक्त उत्तेजना की भाषा को छोड़ लक्ष्य की भाषा से प्रमाण लें तो वे नवजागरण की अग्रिम पंक्ति के लेखकों में हैं ।

खड़ी बोली को बृज या अवधी की लीक से हटाकर समर्थ भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में उनकी अहम भूमिका है । उन्होंने लोगों के इस आरोप का जवाब अपनी खड़ी बोली कविताओं से दिया कि इस भाषा में अच्छी कविता नहीं लिखी जा सकती । इनकी कविताएं पढ़कर लोगों ने बृज-अवधी के स्थिर प्रभाव से मुक्ति पायी । उन पर पुनरुत्थान का असर जरूर था, पर वह उनकी नियति नहीं बना । जनता के राष्ट्रव्यापी गतिशील स्वभाव से उनका पुनरुत्थानवादी मत बदलता गया । सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम से विकसित चेतना, औद्योगिक-वैज्ञानिक युग के विचारों तथा देश की जरूरत को ग्रहण कर उन्होंने अपनी मानसिकता का निर्माण किया । यद्यपि यह सब व्यवस्थित नहीं था, इसलिए उनमें अन्तर्विरोधों की भरमार है—पर उनका प्रभाव जनता में देशभक्त कवि के रूप में पड़ा है । उन्होंने जन आन्दोलन को हमेशा आगे बढ़ाया । स्वतंत्र भारत में सत्ता दल की ओर से राज्य सभा की सदस्यता ग्रहण करते हुए भी उन्होंने जनता को धोखा नहीं दिया । वे सच्चे जन प्रतिनिधि कवि थे । भारतीय इतिहास के निर्माताओं में उनका नाम सदा अंकित रहेगा ।

मैथिलीशरण गुप्त में पौराणिकता और आधुनिकता

—खगेन्द्र ठाकुर

मैथिलीशरण गुप्त का एक कवि के रूप में उदय, विकास और इतिहास में प्रतिष्ठापन बीसवीं सदी के प्रारम्भिक चरण में ही राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के प्रथम जन-उभार (१९०५-१९१०) की पृष्ठभूमि में हुआ । इस सदी का प्राय: पूरा पूर्वार्द्ध स्वाधीनता संग्राम में बीता और उसके उत्तरार्द्ध के अब तक बीते हुए दशक राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के प्रयत्न, उसके संकट, संकट से उबरने की जद्दोजहद में बीते हैं । हम संकट से उबरने का रास्ता नहीं खोज पाये हैं और कहा जाने लगा है कि हमारे राष्ट्र की स्वतंत्रता एवं एकता खतरे में है या यह पूछा जा रहा है कि लम्बे स्वाधीनता संग्राम में जनता ने और उसके बेहतरीन प्रतिनिधि के रूप में शहीदों ने जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लगातार खून बहाया, वह कहां दब गया ! गुप्त जी आजाद भारत में भी कई दशकों तक रहे । उनके सामने और उसके बाद के वर्षों में भी अनेक नयी-नयी समस्याएं खड़ी हो गयीं, कई नयी पीढ़ियां उभर कर सामने आ गयीं, उनकी बदली हुई आकांक्षाएं और आशाएं आ गयीं । उनकी निराशा और कुण्ठा भी राष्ट्रीय चेतना को उद्वेलित करती रही है । राष्ट्रीय स्वतंत्रता और सामाजिक प्रगति की शक्तियों पर आज वे सामाजिक-राजनीतिक शक्तियां हमले कर रही हैं जो देश की दिशा को उलट कर पीछे अतीत की ओर ले जाना चाहती हैं, जीवन की मौजूदा समस्याओं का समाधान प्राचीन धर्म में खोजने को प्रेरित कर रही हैं, गंगा की अग्रगामी धारा को उलट कर गंगोत्री में समेट देना चाहती हैं । पेड़ की मुक्त आकाश की ओर बढ़ने वाली फुनगियों को जड़ में समाविष्ट कर देना और मनुष्य के विराट स्वरूप को कुण्डलिनी शक्ति में लपेट देना चाहती हैं । ऐसी हालत में गुप्त जी के काव्य में पौराणिकता एवं आधुनिकता के संघर्ष या समन्वय की प्रक्रिया की छानबीन करना उपयोगी होगा, क्योंकि ये दार्शनिक चेतना के स्तर पर वैष्णव हैं और समकालीनता की दृष्टि से आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के एक काव्यात्मक प्रवक्ता भी ।

गुप्त जी अपनी आस्था में वैष्णव हैं और राम उनके आराध्य रहे हैं । उन्होंने अपने महाकाव्य "साकेत" में प्रवेश-कथन के रूप में लिखा भी है :

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है ।

लेकिन स्वयं गुप्त जी का कवि-जीवन बताता है कि उन्हें सबसे पहले कवि बनाया स्वाधीनता संग्राम ने। गुप्त जी की प्रारम्भिक रचना है, "भारत-भारती" जिसके प्रस्थान वाक्य की तरह उन्होंने सवाल उठाया—

हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएं सभी।

जैसे आधुनिक राष्ट्रीयता के प्रथम उद्घोषक भारतेन्दु ने भारतीय जनता को पुकार कर कहा था—

आवहु सबहु मिली भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

भारत की वर्तमान दुर्दशा भारतेन्दु का भी प्रेरणा स्रोत है और गुप्त जी का भी। भारत को पुनः गौरवशाली बनाने की चिंता दोनों को है। क्यों है यह चिंता? इसीलिए कि वे महसूस करते हैं कि देश के हर नागरिक का आत्मसम्मान देश के राष्ट्रीय गौरव से अभिन्न है। व्यक्तिगत आत्म-सम्मान या राष्ट्र के पौराणिक अथवा प्राचीन गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए देश को वर्तमान दुर्दशा से मुक्त करना जरूरी है। उस समय वर्तमान दुर्दशा का मुख्य कारण था देश का ब्रिटिश साम्राज्य की पराधीनता में होना। इसलिए राष्ट्रीय गौरव की प्राप्ति के लिए ब्रिटिश साम्राज्य से देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना अनिवार्य था। यह समझने की बात है कि जिसने भी, वह साहित्यकार हो या और कोई नागरिक, राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में भाग लिया, उसे व्यक्तिगत प्रतिष्ठा भी मिली। गुलाम भारत में सबसे बड़ा तात्कालिक कर्तव्य था स्वाधीनता के लिए संघर्ष। प्रेमचन्द ने अपनी पहली कहानी "दुनिया का सबसे अनमोल रतन" में पूरे ऐतिहासिक विवेक के साथ कहा था—"खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे, दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।" मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस बात को पूरी तरह समझा था, इसीलिए तो देश के आजाद हो जाने के बाद १९५१ में उन्होंने कहा—"मेरा कार्य तो वर्तमान का था और शायद वह मेरे जीवन के साथ समाप्त भी हो जाय।" यह कथन कुछ लोगों को चौंकाने वाला लग सकता है, क्योंकि गुप्त जी ने "भारत-भारती" के बाद अपने प्रायः सभी काव्य ग्रंथों की रचना रामायण, महाभारत या ऐसे ही अन्य पौराणिक या ऐतिहासिक प्रसंगों से ली गयी 'प्रख्यात' कथा के आधार पर की है। और "भारत-भारती" की भूमिका में भी उन्होंने लिखा था—"बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिए हिन्दी में अभी तक उस ढंग की कोई कविता पुस्तक नहीं लिखी गयी जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति और अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत के लिए प्रोत्साहन भी।" इस अभाव की पूर्ति के लिए "भारत-भारती" की रचना उन्होंने की। ध्यान देने की बात है कि देशवासियों में "इसी उत्साह को, इसी मानसिक वेग को उत्तेजित करने के लिए कविता एक उत्तम साधन है" यह मान कर गुप्त जी काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त

हुए। जाहिर है कि काव्य की यह भूमिका आधुनिक है, पौराणिक या मध्यकालीन नहीं। काव्य की इस भूमिका को, यानी "देशवत्सल सज्जनों" में स्वाधीनता के लिए "मानसिक उद्वेग" पैदा करने को वह उत्कृष्ट कार्य मानते हैं—

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता!

एक बात और गौर करने लायक है। गुप्त जी उपर्युक्त भूमिका-प्रसंग में ही कहते हैं कि "संसार में ऐसा काम नहीं जो सचमुच उद्योग से सिद्ध न हो सके।" यहां उद्योग का अर्थ है परिश्रम। इसका मतलब यह है कि वे देश की हालत बदलने के लिए मनुष्य की भूमिका को स्वीकार करते हैं। यह आधुनिक युग की ऐतिहासिक चेतना का अभिन्न अंग है। गुप्त जी मनुष्य से जिस उद्योग या परिश्रम की आशा करते हैं और जिसके लिए वे अपनी कविता के द्वारा उसमें उत्साह पैदा करना चाहते हैं, वह है स्वाधीनता के लिए लड़ना। स्वाधीनता से ही पुराना गौरव वापस मिलेगा और सुखी-सम्पन्न भविष्य का निर्माण करने का मौका मिलेगा। इस तरह गुप्त जी की इतिहास चेतना में दो बातें हैं—एक तो यह कि काल एक अनवरत प्रक्रिया है, जिसकी पहचान देश-दशा के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल-खण्डों में वर्तमान ही निर्णायक और सर्वप्रमुख होता है। भविष्य के निर्माण की आधारशिला वर्तमान में रखी जाती है और वर्तमान की समस्याओं को हल करने की दृष्टि से अतीत का सिंहावलोकन करना उचित होता है। यही वैज्ञानिक इतिहास बोध है। और गुप्त जी के काव्य में पौराणिकता एवं आधुनिकता के सम्बन्धों को इसी इतिहास-बोध के प्रकाश में समझा जा सकता है।

"भारत-भारती" के अतीत खण्ड में गुप्त जी ने प्राचीन भारत की सभ्यता, धर्म, दर्शन, समाज-व्यवस्था, राजनीतिक प्रणाली, नैतिकता आदि की सर्वश्रेष्ठता का वर्णन तो किया ही है, उसकी अद्भुत वीरता को भी याद किया है। लेकिन इस अतीत-स्मरण में कहीं यह भाव नहीं है कि भारत को उसी प्राचीन व्यवस्था की ओर लौट चलना चाहिए। अतीत की वीरता का स्मरण तो ब्रिटिश साम्राज्य से लड़ने के लिए देशवासियों को प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया है। यहां तक कि गीता के बारे में कहते हैं—

उपदेश गीता का हमारा युद्ध का ही गीत है,
जीवन-समर में भी जनों को जो दिलाता जीत है। (पृ. ५५)

यों यह सच है कि इस अतीत खण्ड में भारतीय इतिहास को प्रस्तुत करने में कहीं-कहीं पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण की छाप दिखायी पड़ती है, जिसके फलस्वरूप वह समझते हैं कि आधुनिक प्रगति के सारे सूत्र

हमारे प्राचीन ग्रंथों में हैं । मुस्लिम शासन के प्रारम्भ को वे भारत के पतन का प्रारम्भ मानते हैं, लेकिन इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि वे 'औरंगजेबी' की निन्दा करते हैं और अकबर की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उसके शासन काल में सुव्यवस्था थी । और यह भी कहते हैं—

ऐसा नहीं होता कि सारी जाति कोई क्रूर हो । (पृष्ठ ८३)

इससे गुप्त जी में हिन्दुत्व के प्रति जो आकर्षण है, वह सम्प्रदायवादी रूप नहीं लेता । गांधी जी की धर्मनिरपेक्षता में भी तो धर्म और हिन्दुत्व के प्रति आकर्षण था ! इस तरह की धर्मनिरपेक्षता की अपनी सीमाएं हैं अवश्य, लेकिन यह धार्मिक या जातिगत कट्टरपन से बिलकुल भिन्न है । वर्तमान खण्ड में अंग्रेजी राज के अधीन दारिद्र्य, दुर्भिक्ष, अशिक्षा तथा भारतीय धन के विदेश चले जाने का वर्णन वे भी भारतेन्दु की तरह ही करते हैं । वे भी धनियों की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि धनी लोग इस बात को नहीं समझते कि—

"जातीयता क्या वस्तु है निज देश कहते हैं किसे . . ."। (पृ. ११७)

यहां "जातीयता" का अर्थ है राष्ट्रिकता । भारत की आधुनिक राष्ट्रिकता के उदय के पीछे साम्राज्यवाद-विरोध और स्वदेशी उद्योग के विकास की प्रबल भावना रही है । राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कवि के लिए यह पीड़ादायक है कि—

जो वस्तु देखो, "मेड इन" इंगलैंड, इटली, जर्मनी है ।
जापान, फ्रांस, अमेरिका व अन्य देशों की बनी है । (पृष्ठ १०९)

अपने देश के भविष्य के निर्माण के लिए वे देशवासियों को ललकारते हैं—

"आगे बढ़ो निर्भीकता से काम है क्या भीति का" । (पृष्ठ १६२)

तीस करोड़ देशवासियों से कहते हैं—

उत्साह-जल से सींच कर हित का अखाड़ा जोड़ दो,
गर्दन अमित्र अधः पतन की ताल ठोंक मरोड़ दो । (पृष्ठ १६२)

देखिए यह वैष्णव कवि "अमित्र अधःपतन" की गर्दन मरोड़ने के लिए ताल ठोंकने का आह्वान कर रहा है । 'अमित्र' है ब्रिटिश सरकार । देश को जगाने और आगे बढ़ाने के लिए वे केवल आजादी नहीं आधुनिक विज्ञान और उद्योग का भी समर्थन करते हैं । उनकी समझ है—

व्यवसाय अपने व्यर्थ हैं अब नव्य यंत्रों के बिना,
परतंत्र हैं हम सब कहीं अब भव्य यंत्रों के बिना । (पृष्ठ १६६)

कवि को इस बात का ध्यान है कि कोई उन्हें वैष्णवता की याद दिला कर कह सकता है कि "नव्य यंत्रों" का स्वागत करने से प्राचीनता का क्या होगा ? उन्हें जवाब देते हुए वे कहते हैं—

प्राचीन हो कि नवीन छोड़ो रूढ़ियां जो हों बुरी,
बन कर विवेकी तुम दिखाओ हंस जैसी चातुरी ।

प्राचीन बातें ही भली हैं यह विचार अलीक है,
जैसी अवस्था हो जहां वहां वैसी व्यवस्था ठीक है । (पृष्ठ १६६)

प्राचीन के प्रति विवेकसंगत आलोचनात्मक दृष्टिकोण इन पंक्तियों में है । इतना ही नहीं आगे कहते हैं—

देखो, दिनोंदिन बढ़ रहा विज्ञान का विस्तार है,

* * *

सुख दूर, जीना भी कठिन है श्रम बिना संसार में । (पृष्ठ १६६)

विज्ञान और श्रम की भूमिका को कबूल करना आधुनिक युग का तकाजा है । गुप्त जी उन्हें कबूल करते हैं । "भारत-भारती" के उपर्युक्त प्रसंगों के आधार पर इतने विस्तार से गुप्त जी के इतिहास-बोध और सामाजिक चेतना की व्याख्या करना जरूरी इसलिए समझा गया कि यह राष्ट्रकवि गुप्त जी की काव्य-यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु और मार्ग निर्देशक दोनों है ।

"भारत-भारती" के रचना काल में ही गुप्त जी "जयद्रथ-वध" की रचना कर रहे थे । महाभारत-प्रसंग के आधार पर रचित इस काव्य का अभिमन्यु भारतीय स्वाधीनता संग्राम में अपनी आहुति देने वाले नौजवानों जैसा लगता है । कम-से-कम इतना तो अनुभवसिद्ध सत्य है कि इस काव्य ने हमारे स्वाधीनता संग्राम के दिनों में ढेर सारे युवकों को आत्मोत्सर्ग के लिए प्रेरित किया । यह कैसे सम्भव हुआ ? प्रस्तुत काव्य में अनेक स्थलों पर ऐसे कथन हैं, जो ब्रिटिश शासन काल के प्रसंग से जुड़ कर उत्प्रेरक बन जाते हैं । जैसे—

निज शत्रु का साहस बढ़ाने न देना चाहिए,
बदला समर में वीरियों से शीघ्र लेना चाहिए । (पृष्ठ १२)
तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है ।
कैसा समय कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म है ?
हे अनघ ! क्या यह विज्ञता भी आज तुमने दूर की
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की ? (पृष्ठ ३७)

पहला कथन उत्तरा के प्रति अभिमन्यु का है और दूसरा कृष्ण का अर्जुन के प्रति—अभिमन्यु-वध के बाद । ये कथन सामान्यीकृत ढंग से कहे गये हैं, इसीलिए महाभारत के प्रसंग-विशेष को लांघ कर वर्तमान जीवन-संदर्भ में प्रवेश कर जाते हैं । ऐसे कथन और भी हैं । लेकिन महत्व उनकी संख्या का नहीं, उनमें निहित रचना-प्रक्रिया का है, जो पौराणिक प्रसंग का नवोन्मेष कर देती है ।

गुप्त जी के प्रसिद्ध काव्य "साकेत", "यशोधरा", "विष्णुप्रिया", "रत्नावली" आदि में भी पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रसंग हैं । लेकिन उन काव्य-ग्रंथों की रचना के प्रेरणा-स्रोत अतीत में नहीं, वर्तमान में हैं । इन रचनाओं की कथा तो पौराणिक या ऐतिहासिक है, लेकिन उनमें कोई पौराणिक या ऐतिहासिक रूढ़ि नहीं है, बल्कि सच तो यह है कि इतिहास-पुराण के जमाने से चली आ रही रूढ़ियों का बंधन खोलने की

लिए उनकी कथाओं और चरित्रों का सार्थक उपयोग किया गया है। पुराने मिथकों के इस तरह के इस्तेमाल को समझना जरूरी है। मिथकों या ऐतिहासिक सन्दर्भों एवं रूढ़ियों की एक भूमिका यह है कि हम उनके जरिये उनके समय के समाज, मनुष्य और उनके आपसी सम्बन्धों को, उनके जीवन की स्थिति और गति को जानने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन गुप्त जी ने उनका जैसा इस्तेमाल किया है उसकी दिशा अतीत नहीं, भविष्य है। यह कैसे सम्भव हुआ? इसका समुचित उत्तर पाने के लिए यह देखना जरूरी है कि गुप्त जी में प्रत्यक्षीकरण का विषय क्या है? वर्तमान या अतीत? यों हकीकत यह है कि अतीत हमारे प्रत्यक्षीकरण या इन्द्रियबोध का विषय नहीं हो सकता। उसका ज्ञान हम अपनी बौद्धिक क्रिया से ही प्राप्त करते हैं। इन्द्रियबोध का सीधा सम्बन्ध वर्तमान से होता है। जिस कवि का इन्द्रियबोध सजग और सक्रिय नहीं होता है, वह वर्तमान की उपेक्षा करता है या उससे संतुष्ट रहता है। गुप्त जी अपने वर्तमान की न उपेक्षा करते हैं और न उससे संतुष्ट हैं। वर्तमान के प्रति असंतोष उन्हें वर्तमान की पुनर्रचना के लिए प्रेरित करता है, राष्ट्रीय संघर्ष से जोड़ता है। इसी भाव से वे इतिहास-पुराण को भी देखते हैं। प्राचीन गौरव के प्रति आकर्षण और वर्तमान की पुनर्रचना का संघर्ष—इसी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से गुजरते हुए गुप्त जी पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रसंगों को रूढ़िमुक्त करके हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। यह प्रक्रिया हमारे लिए महत्वपूर्ण इसलिए है कि धार्मिक चेतना से प्रतिबद्ध लोग अक्सर इन्द्रियजन्य ज्ञान को भी एक नितान्त बौद्धिक धारणा से जोड़ कर इतिहासेतर रवैया अपनाते हैं। बात यह है कि धर्म जब दृष्टिकोण या दर्शन का रूप ले लेता है, तो वह परिवर्तनशीलता से इन्कार करता है, जबकि परिवर्तनशीलता का इतिहास से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। धार्मिक चेतना वाले कवियों और लेखकों ने अक्सर आध्यात्मिक इतिहास-दृष्टि अपनायी, जिसके अनुसार इतिहास की गति चक्रीय है। इस इतिहासचक्र की गति के अनुसार सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग क्रमशः एक-दूसरे के बाद आते रहते हैं। यह चक्र स्वचालित और स्वतःस्फूर्त है। इसमें जनता की कोई भूमिका नहीं होती। और जिस प्रक्रिया में जनता की कोई भूमिका नहीं होती, वह कतई जनतांत्रिक नहीं होती। क्या मैथिलीशरण गुप्त इस इतिहास-दृष्टिकोण को मानते हैं? नहीं। वे जनता के संघर्ष की भूमिका, इतिहास के विकास में उसके अनिवार्य योगदान को मानते हैं। यह देखना रोचक है कि गुप्त जी वैष्णव होते हुए भी आध्यात्मिक इतिहास दृष्टि को नहीं मानते और अज्ञेय, निर्मल वर्मा आदि "आधुनिकवादी" होते हुए भी आध्यात्मिक इतिहास-दृष्टि का प्रचार कर रहे हैं। गुप्त जी जिस दौर के प्रवक्ता कवि हैं, उस दौर में राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना का अभिन्न अंग था भारत को आधुनिक उत्पादक शक्तियों से सम्पन्न बनाना; क्योंकि इसके बिना भारत आत्मनिर्भर और उन्नत नहीं

हो सकता था। गुप्त जी भी भारत को आधुनिक उत्पादक शक्ति से सम्पन्न करना चाहते थे। इसीलिए धार्मिक चेतना के बावजूद वे आध्यात्मिक चक्रीय इतिहास-दृष्टि नहीं स्वीकारते। वे इतिहास की विकासमान और प्रगतिशील अवधारणा को कबूल करते हैं, इसीलिए पुराण या मिथक और वर्तमान की आकांक्षा के द्वन्द्व को हल कर पाते हैं। इस वैचारिक पृष्ठभूमि में देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि "साकेत", "यशोधरा", "विष्णुप्रिया" और "रत्नावली" की रचना का सम्बन्ध स्वाधीनता संग्राम के तहत चल रहे नारी जागरण से है। अब तक के कवियों के द्वारा उपेक्षिता नारियों की पीड़ा को गुप्त जी ने महसूस किया। उन्होंने उनके दिल की धड़कन सुनी और उसे अपनी काव्य-वाणी के द्वारा समाज तक असरदार ढंग से पहुंचाया। "साकेत" में दो प्रमुख नारी चरित्र हैं—सीता और उर्मिला। राम के वन-गमन के समय दोनों एक ही कर्तव्य का पालन अलग-अलग ढंग से करती हैं। सीता जंगल जाती हैं राम के कर्तव्य-पालन में सहयोग करने के लिए और कहती हैं—"स्वर्ग बनेगा अब वन में"। जंगल में कैसा स्वर्ग होगा? लेकिन प्रियतम के कर्तव्य-पालन में साथ देना स्वर्गिक सुख की अनुभूति देता है। लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला यदि जंगल जाती तो राम की सेवा करने में लक्ष्मण को बाधा होती। इसलिए—

कहा उर्मिला ने—हे मन
तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग-भरा।
हो अनुराग विराग भरा।

त्याग से भरे हुए स्वार्थ और विराग से भरे हुए अनुराग की व्यापकता, उदात्तता एवं महानता देखने योग्य है। स्वार्थ और अनुराग का यह व्यापकीकरण एवं उदात्तीकरण कैसे हुआ है? इस पूरे वन-गमन पर कवि की जो अपनी टिप्पणी है, उस पर गौर कीजिए—

प्रस्थान—वन की ओर,
या लोक मन की ओर?
हो कर न धन की ओर,
है राम जन की ओर। (उप., पृष्ठ ७०)

राम ने वन की ओर जिस मार्ग से प्रस्थान किया है, वह वास्तव में लोक-मन की ओर, जन की ओर जाता है। यहां परलोक के मुकाबले लोक है और राजतंत्र और धन के मुकाबले जन है। इस तरह पौराणिक मिथक आधुनिक युग की ओर आ रहा है। "साकेत" के अन्तिम अंश का यह छंद भी इस मार्ग को पुष्ट करता है—

अलक्ष की बात अलक्ष जाने
समक्ष को ही हम क्यों न मानें।
रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा। (पृष्ठ ३३३)

गुप्त जी बौद्धिक ज्ञान के ऊपर इन्द्रियबोध जन्य ज्ञान को महत्व दे रहे हैं और इसी ज्ञान से जुड़ी हुई है जीवन की प्रीति-धारा और आदर्श, जो ईश्वर की तरह आराध्य है। और यह आदर्श अलक्ष्य नहीं, समक्ष है, अप्राप्य नहीं, बल्कि प्राप्य है।

"यशोधरा" पर तत्कालीन नारी जागरण का प्रभाव और भी ज्यादा मुखर एवं प्रखर है। यह प्रभाव अपने स्वरूप में सामाजिक है, जो वैयक्तिकता की सीमाओं को तोड़ता है। स्वाधीनता और राष्ट्रीय प्रगति से प्रतिबद्ध हजारों युवक-युवतियों एवं स्त्री-पुरुषों ने निजी सुख-दुख को एकदम भुला दिया। इसका असर हम यशोधरा के व्यक्तित्व में देखते हैं। सिद्धार्थ एक रात चुपके से घर-परिवार सब कुछ छोड़ कर चले गये। आम तौर से यह होता कि यशोधरा विलाप करती, यह चिंता करती कि अब पति के बिना जीवन कैसे बीतेगा, लेकिन मनुष्यता के उदात्त मूल्यों से प्रतिबद्ध यशोधरा कहती है—

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

उसे कष्ट खास करके यह सोच कर है कि सिद्धार्थ ने नारी की शक्ति को, उसके चारित्रिक गुण को पहचाना नहीं, उसका अपने मन में अवमूल्यन किया, उसे अपने सिद्धि-जय की बाधा समझा, तभी तो कहे बिना चले गये। यशोधरा कहती है—

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते।

यशोधरा के इस रूप में अद्भुत शक्ति, धैर्य और ओज है, जो महात्मा बुद्ध से भी अधिक आकर्षक लगता है। यह नारी रूप 'अबला' नहीं है। यशोधरा कहती है—

मैं अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्ति ! पर वे कब थे विषयों के चेरे ?

सिद्धार्थ इन्द्रियासक्ति और विषय के भय से घर से भाग गये, लेकिन यशोधरा संसार में रह कर इन सबका मुकाबला करती है। इसीलिए कहती है—**आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।** एक तो वैष्णव कवि गुप्त जी का महात्मा बुद्ध और यशोधरा के प्रसंग को काव्य-विषय के रूप में स्वीकार करना ही वैष्णवता की रूढ़ि को तोड़ता है, दूसरे यशोधरा का, जीवन की चुनौतियों को भी चुनौती देने वाला, कठोर रूप "नारी" की भी सीमाओं को तोड़ता है।

आज पौराणिक रूढ़ियां देश और राष्ट्र की एकता पर चोट कर रही हैं। गुप्त जी ने भी देश की दुर्दशा के साथ ही हिन्दुओं की दुर्दशा पर भी आंसू बहाये हैं। लेकिन जब उन्हें राष्ट्र का ध्यान आता है, उसका भवितव्य सामने आता है, तो वे अपनी रूढ़ियों को तोड़ दोनों को एक नाते में जोड़ने की कोशिश करने लगते हैं। यह नया नाता है, जो धर्म से

नहीं, मातृभूमि के प्रति कर्तव्यबोध और जीवन के समान स्वार्थ से बनता है। वे अपने काव्य "हिन्दू" में कहते हैं—

मातृभूमि का नाता मान
हैं दोनों के स्वार्थ समान
हमें तुम्हें रहना है साथ,
सुख-दुःख सब सहना है साथ
हिलमिल कर रहने में श्रेय
और इसी में अपना प्रेय
कोई काफिर कोई म्लेच्छ
हो तो होता रहे यथेच्छ
हिन्दू-मुसलमान की प्रीति
मेटे मातृभूमि की भीति।

जब मातृभूमि के उत्थान और जीवन की समस्याओं के समाधान के प्रश्न सामने आते हैं, तो धर्म की भूमिका की सीमा समझ में आती है। गुप्त जी ने उसे समझा था। इसीलिए वे पौराणिक, धार्मिक रूढ़ियों को तोड़ कर आधुनिक राष्ट्रीयता का वरण करते हैं। भारतीय संस्कृति की वैदिक अवधारणा को अपने रास्ते में बाधक नहीं बनने देते। संस्कृति भी उनके लिए सामाजिक विकास की प्रक्रिया से जुड़ी हुई है और उसमें राष्ट्र के सभी समुदायों का योगदान है। यह सांस्कृतिक चेतना गुप्त जी को आधुनिक राष्ट्रीयता से जोड़ती है। गुप्त जी की भी अपनी सीमाएं हैं, लेकिन यहां मैंने यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि कैसे वे पौराणिक रूढ़ियों को तोड़ते हैं, कैसे मिथकों का नवीकरण करते हैं। गुप्त जी की सीमा भारतीय स्वाधीनता संग्राम के पूंजीवादी नेतृत्व से सम्बद्ध है। उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन के वर्गीय अन्तर्विरोधों को नहीं देखा, इसलिए इसकी सीमा से निकल नहीं सकते थे, जैसे प्रेमचंद निकल गये या फिर प्रगतिशील आन्दोलन के कवि निकल गये। लेकिन मिथकों के नवीकरण की जो प्रक्रिया गुप्त जी में है, वह महत्वपूर्ण है।

मैथिलीशरण गुप्त का मानववाद

—डॉ. रामदरश मिश्र

मानवतावाद के रूप में मानववाद का अस्तित्व बहुत पुराना है। इसके बावजूद मानववाद प्रमुख रूप से आधुनिक काल की अवधारणा है। मानववाद की अवधारणा के केन्द्र में मनुष्य है। मनुष्य और उसका परिवेश ही सत्य है। वह अज्ञात सत्ता का उपलक्षण नहीं है, वह स्वतः अपना लक्ष्य है। मानवतावाद अध्यात्मवादी विश्वास के नीचे मानवीय सदाशयता की खोज है किन्तु मानववाद वैज्ञानिक विचारधारा के तहत मनुष्य की सम्पूर्ण स्वीकृति है। मनुष्य का विकास पशुता से हुआ है इसलिए उसमें पशुता के अवशेष हैं जो रह रह कर सिर उठाते हैं और अच्छे से अच्छे मनुष्य को कमजोर क्षणों में पशु बना देते हैं, किन्तु पशु बने रहना मनुष्य की मनुष्यता नहीं है। मनुष्य पशुता से लड़ता हुआ आया है और इस निरन्तर संघर्ष से ही उसने मनुष्यता अर्जित की है। यह मनुष्यता अर्जित होने के बावजूद उसका गहरा संस्कार बन गयी है। मनुष्य कमजोर क्षणों में पशुता से पराजित होने के बावजूद, पराजय की स्थिति और मनःस्थिति में पड़े रहना नहीं चाहता, वह होश आने पर फिर संभलता है, उठता है और मनुष्यता के कर्म करता है। इसलिए पाप, कमजोरी, पशुता आदि के कारण मनुष्य को कलंकित नहीं करना चाहिए, उन्हें उसका स्वाभाविक कर्म मानकर क्षमा करना चाहिए और उसके भीतर निहित मानवीय संभावनाओं को विकसित होने का अवसर देना चाहिए। पाप कोई स्थायी कर्म नहीं होता, न वह कोई ऐसा ठप्पा होता है कि एक बार यदि लग जाये तो फिर छूटता नहीं और व्यक्ति उसी के दबाव के नीचे घुट घुट कर मरता रहे। वह मनुष्य की सहज च्युति है और कई बार जिसे हम पाप मान लेते हैं वही दूसरे संदर्भ में या युग में मूल्य बन जाता है। मनुष्य को केन्द्र में रखकर जब पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, मूल्य-मूल्यहीनता आदि पर विचार होता है तब उनके परंपरागत अर्थ बदल जाते हैं और उन्हें संश्लिष्टता प्राप्त हो जाती है। आधुनिक काल के मानववादी चिन्तन के केन्द्र में मनुष्य ही है—सामान्य मनुष्य। मानववादी चिन्तन मनुष्य समाज के लौकिक सुख-दुख, समस्याओं, प्रश्नों, भूख-प्यास आदि की चिन्ता करता है और उनके समाधान का प्रयत्न भी। उन्हें परलोक के हवाले नहीं करता। इसलिए वह एक ओर तो मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक प्रश्नों से जूझता है और एक ऐसी व्यवस्था की चिन्ता करता है जिसमें मनुष्य समाज की लौकिक सत्ता सुखी और सम्पन्न हो

सके, दूसरी ओर उसके मानसिक जगत के अनेक छोटे-बड़े संवेदनों, इच्छाओं, आदि को महत्व देता है जिनसे मनुष्य मनुष्य बना रहता है, निस्पंद देवता नहीं बन जाता। यानी वह मनुष्य को न तो देवता मानता है न पशु। मनुष्य पशु होकर भी उदात्त है और देवता के गुणों का अधिकारी होकर भी पशुता से मुक्त नहीं है। इसलिए मनुष्य की गिरावट से हम उससे घृणा नहीं करते और न यह आकांक्षा करते हैं कि मनुष्य अपनी सारी सहज इच्छाओं, भूख-प्यास का दमन कर एक आदर्श निस्पंद देवता बन जाय। मनुष्य की अस्मिता की इस रूप में पहचान आधुनिक काल की सबसे बड़ी देन है।

मनुष्य की पहचान चन्द महत् मान लिए गए मनुष्यों के रूप में नहीं होती वरन् अनंत लघु, अभिशप्त, सामान्य माने गये मनुष्यों के रूप में होती है। इसलिए आधुनिक साहित्य ने महत् व्यक्तियों की अपेक्षा सामान्य व्यक्तियों को अपना कथ्य बनाया। इसी तथ्य की ओर प्रसाद जी ने अपने निबंध 'छायावाद और यथार्थवाद' में संकेत किया और लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात को आधुनिक साहित्य की प्रमुख विशेषताओं में से एक माना। भारतेन्दु काल के कवियों ने मनुष्य को उसके देश-काल के ठोस परिवेश में पहचानना चाहा। यानी मनुष्य की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के बीच ही उसकी पहचान होती है। परिवेश की सुन्दरता और स्वास्थ्य के बीच ही मनुष्य-समाज स्वस्थ और सुन्दर बना रहता है। इसलिए इस काल के कवियों और लेखकों ने राष्ट्रीय और सामाजिक विसंगतियों को देखा और उन्हें दूर करने की आवाज उठाई। इस प्रकार अब तक साहित्य के क्षेत्र में लघु माने जाने वाले अनेक सामाजिक, आर्थिक और अन्यान्य प्रश्नों को केन्द्रित किया जिनकी अब तक उपेक्षा हुई थी। इन लेखकों और कवियों को साहित्य की रसात्मकता की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी मनुष्य के सामाजिक-राष्ट्रीय योग-क्षेम की। इसलिए इनके माध्यम से ऐसा साहित्य सामने आया जिसमें नयी सामाजिक चेतना थी, विषयों की नयी पहचान थी और जनसामान्य की भाषा-शैली की पकड़ थी। इनमें महत् और उससे प्राप्त होने वाली पारंपरिक रसात्मकता के स्थान पर एक खुरदरा बोध था।

मैथिलीशरण गुप्त मानववाद के एक विशिष्ट और वरिष्ठ कवि हैं उनकी दृष्टि बाहर और भीतर दोनों ओर की लघुताओं की ओर गयी। वे एक ओर सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के व्यापक फलक पर फैले अनंत विषयों का चुनाव कर रहे थे दूसरी ओर व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक धरातल की पहचान करते हुए उसके सामान्य सुखात्मक-दुखात्मक अनुभवों को रेखांकित कर रहे थे। उनका कथ्य अतीत से लेकर वर्तमान तथा भविष्य तक; उच्च वंश से लेकर किसान तक; राजनीतिक, आर्थिक और

सामाजिक यथार्थ से लेकर मानसिक यथार्थ तक फैला हुआ है किन्तु उन्हें सर्वत्र सामान्य मनुष्य और मनुष्यता की चिन्ता है। यह सच है कि पुनर्जागरण का स्वर आदर्शवादी है किन्तु यह आदर्शवाद पारंपरिक नहीं है इसमें अपने समय की आवश्यकता और चेतना धंसी हुई है। यह सच है कि आरंभिक कविताओं में गुप्त जी का स्वर अधिक सपाट और इकहरा है किन्तु वह क्रमशः संश्लिष्ट होता गया है। ''भारत-भारती'' में वे अपने देश के अतीत विशेषतया हिन्दू अतीत का गौरव गान करते हैं, फिर वर्तमान में हो गये उसके अधःपतन का विवरण पेश करते हैं और फिर भविष्य की संभावनाएं उकेरते हैं। किन्तु आगे चलकर उनका स्वर यथार्थ और आदर्श के परस्पर अनुस्यूत जटिल रूप को उभारता है और वह हिन्दू आदर्श से मानवीय आदर्श की ओर उन्मुख होता है। हिन्दू पात्रों से गुजरता हुआ भी उनका स्वर अनेक राष्ट्रीय, सामाजिक और अखिल मानवीय प्रश्नों से टकराता है।

''भारत-भारती'' गुप्त जी की पहली रचना है जिसने देश के अनंत पाठकों को एकबारगी झकझोर दिया। यह पुस्तक गुप्त जी की काव्यात्मक क्षमता की ओर संकेत करती हो या न करती हो, देश और समाज के बारे में उनकी गहरी चिन्ता का प्रमाण अवश्य देती है। इस चिंता में देश की संस्कृति, राजनीति, अर्थव्यवस्था और सामाजिक संरचना की समझ शामिल है। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु की परम्परा में गुप्त जी ने मानववाद के ठोस वस्तुवादी संदर्भों का आख्यान किया। इतना ही नहीं, काव्य और कला को एक सीमित दायरे से निकल कर व्यापक जगत में आने का निमंत्रण दिया और उनके वास्तविक मर्म का उद्घाटन किया—

करते रहोगे पिष्ट पेषण और कब तक कविवरो
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो। अब तो न जीते जी मरो।
आनंददायी शिक्षिका है सिद्ध कविता-कामिनी
है जन्म से ही वह यहां श्रीराम की अनुगामिनी
पर अब तुम्हारे हाथ में वह कामिनी ही रह गयी
ज्योत्स्ना गयी देखो अंधेरी यामिनी ही रह गयी।

जाहिर है श्रीराम यहां मानवीय मूल्य के प्रतीक हैं धार्मिक आस्था मात्र के नहीं। कवि यह कहना चाहता है कि काव्य-कला का मूल सम्बन्ध मानवीय मूल्यों से है—'है जन्म से ही वह यहां श्रीराम की अनुगामिनी।' किन्तु भ्रष्ट कला-समझ ने उसे नारी के कुछ अंगों के विधान तक सीमित कर दिया है और कला के उद्देश्य को जीवन की स्फुरणा के स्थान पर मनोविलास से बांध दिया है। गुप्त जी का मानववाद अपने समय के मूर्त राष्ट्रीय और सामाजिक संदर्भ में रूप ले रहा था अतः वह वैश्विक स्तर का भाववाद नहीं है बल्कि एक जीवंत परिवेश में रूपायित होने वाला

वस्तुवाद है। यहां मानवता विश्व मात्र की मंगलकामना करने वाली अरूप करुणा मात्र नहीं है बल्कि अपने राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक विसंगतियों तथा असत्यों से लड़ती हुई एक नयी मूर्त सर्जना के लिए चिंतित ऊर्जा भी है।

अधिकार खोकर बैठ रहना
यह महा दुष्कर्म है
न्यायार्थ अपने बंधु को भी
दण्ड देना धर्म है।

''जयद्रथ-वध'' की उपर्युक्त पंक्तियां मानववाद के ही तहत कर्म और अकर्म, धर्म और अधर्म की नयी व्याख्या करती हैं या सही व्याख्या को दुहराती हैं। गुलाम देश का कवि एक स्वाधीन देश के कवि से भिन्न तो होगा ही। गुलामी का अभिशाप उसकी मानवता को विश्वमंगल का मंत्र नहीं सिखायेगा बल्कि सबसे पहले अपने समाज की बहुआयामी पीड़ा का बोध करायेगा तथा अधिकारों की लड़ाई लड़ने का पाठ पढ़ायेगा। कवि इस लड़ाई के लिए अपने समय से ही नहीं, अतीत से भी ऊर्जा ग्रहण करेगा, अपने जातीय बिंबों का भी इस्तेमाल करेगा। गुप्त जी ने यह कार्य किया। उन पर हिन्दू, वैष्णव, अतीतवादी आदि होने के आरोप लगाये गये किन्तु इन सारे अवधानों से रस खींच कर वे अंततोगत्वा मानववादी ही रहे। आग्रही दृष्टि उन्हें खंडों में बांटती है किन्तु समग्र दृष्टि उनकी समग्रता को देखती है। वह देखती है कि गुप्त जी कैसे अतीत के हिन्दू मिथ को लगातार बृहत्तर मानवीय सत्य में सर्जित करते गये हैं। प्रश्न है कि उनके हिन्दू राम, लक्ष्मण, कृष्ण, गौतम, सीता, उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि अनंत पात्र हिन्दू समाज की कहानी कहते हैं या अपने को मनुष्य मात्र के सुख-दुख और मूल्य के प्रतीक बना देते हैं?

गुप्त जी ने एक ओर वर्तमान के किसान जैसे उपेक्षित शोषित पात्र और उसके समाज को लिया और लघुता के प्रति अपनी रुझान व्यक्त की दूसरी ओर इतिहास और पुराण के उदात्त पात्रों को लिया। किन्तु ध्यान देने की बात है कि उन्होंने इतिहास या पुराण के महान पात्रों की अपेक्षा उनकी छाह में दबे हुए अपेक्षाकृत लघु, उपेक्षित और अभिशप्त पात्रों को ही केन्द्र में रखा। ''साकेत'' में राम को नहीं उर्मिला को ''यशोधरा'' में गौतम को नहीं यशोधरा को और ''विष्णुप्रिया'' में चैतन्य को नहीं विष्णुप्रिया को केन्द्रीय पात्र बनाया।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने की है कि गुप्त जी ने इन सारे ही पात्रों के मानवीय रूप की पहचान की अर्थात् उनके पारंपरिक औदात्य के नीचे कसमसाती सहज मानवीय संवेदनाओं को उद्घाटित किया और उन्हें महत्व दिया। उन्हें महत्ता के भार के नीचे घुटता मनुष्य पसंद नहीं

आया वरन् महत्ता से संवाद करती उसकी संवेदनात्मक लघुता पसंद आयी। यानी उन्होंने महत् पात्रों को एक सहज खुलापन दिया। ''पंचवटी'' में लक्ष्मण बदले हुए लक्ष्मण हैं। वे परंपरानुसार भाई के सेवक तो हैं किन्तु लक्ष्मण भी हैं यानी व्यक्ति लक्ष्मण की निजता भी उनमें है। इसलिए सोते हुए राम और सीता की पहरेदारी करते हुए वे उर्मिला को याद करते हैं—

बेचारी उर्मिला हमारे लिए
हाय रोती होगी

इस स्मृति में लक्ष्मण और उर्मिला दोनों की दोनों के लिए चिन्ता निहित है। लक्ष्मण उसे याद करते हैं और सोचते हैं कि उर्मिला भी उन्हें याद करती होगी। याद ही नहीं करती होती - रोती होगी। रोने के दो कारण होंगे—एक तो लक्ष्मण के बिना (पति के बिना) उसकी (पत्नी की) व्यथा यानी अभाव या अकेलेपन की व्यथा, दूसरे वनवासी लक्ष्मण के योग-क्षेम की चिन्ता। वास्तव में लक्ष्मण ने इस दूसरे कारण पर अधिक बल देकर उर्मिला को गौरव प्रदान किया है। इसमें भी उन्होंने 'मेरे लिए' नहीं 'हमारे लिए' कहा—यानी उर्मिला की चिन्ता केवल मेरे लिए नहीं हम सबके लिए होगी। उन्होंने उसके रोने को भी कितना मूल्यवान बना दिया। मानववाद के इस बिन्दु को उभारते हुए गुप्त जी लक्ष्मण के बहाने उसके एक दूसरे बिन्दु पर सरक जाते हैं। वे वन्य प्रकृति तथा वहां के सामान्य जन की सहज जीवन पद्धति की मूल्यवत्ता को रेखांकित करते हैं। लक्ष्मण सोचते हैं उर्मिला व्यर्थ ही हमारी चिन्ता करती होगी। उसे यह चिन्ता होगी कि हम वन में बहुत कष्टमय और अकेला जीवन बिता रहे हैं लेकिन वह नहीं जानती कि हम प्रकृति के सहज वातावरण में कितने सुखी हैं। यहां के लोग कितने भोले-भाले, प्यारे हैं, उनका कितना प्यार-भरा साहचर्य हमें प्राप्त होता है। प्रकृति सहज ही हमारे खाने-पीने की व्यवस्था करती रहती है। गुप्त जी बार-बार जीवन की इस सहजता को मूल्य प्रदान करते हैं। वन्य प्रकृति या ग्राम परिवेश की मूल्यहीन या असभ्य मानी जाने वाली जिन्दगी की सादगी, निश्छलता, प्यार, भोलापन, आदि को उन्होंने कितना अधिक महत्व दिया और वह भी नगर संस्कृति की सापेक्षता में। ध्यान देने की बात है कि कवि ने प्रकृति और ग्राम जीवन तथा उसकी संस्कृति को उच्च नगर संस्कृति और राज-वैभव में पले लक्ष्मण और सीता के माध्यम से महत्व दिया है। यानी नगर-संस्कृति से तान कर ग्राम संस्कृति के मूल्य को उभारा है। लक्ष्मण ''पंचवटी'' में और सीता ''साकेत'' में वन्य प्रकृति और ग्राम जीवन के प्रति अपनी रुझान व्यक्त करती हैं—

मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया

अयोध्या के परिवेश में बैठी उर्मिला भी सोचती है—

हम राज्य लिये मरते हैं
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं

सामान्य जनजीवन के प्रति यह गहरी उन्मुखता आस्था और मूल्यबोध गुप्त जी के मानववाद की विशिष्ट पहचान है जो छायावाद में आकर लुप्त प्राय: हो गया।

गुप्त जी के मानववाद का केन्द्रीय बिन्दु स्त्री है। कहा जा चुका है कि उन्होंने महत् परिवारों की उपेक्षिता नारियों—उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया को ''साकेत'', ''यशोधरा'' और ''विष्णुप्रिया''—को प्रबंध काव्यों के केन्द्रीय पात्र बनाया। गुप्त जी की मानववादी दृष्टि ने इन उपेक्षित पात्रों की नारी सुलभ संवेदना की गहरी यात्रा की। उनके मानवीय दर्द, उनके मूल्यबोध और इन दोनों के संघर्ष को रूपायित कर एक ओर इनकी नारी सुलभ सहज संवेदनाओं की पहचान की और उसे महत्व दिया, दूसरी ओर इन संवेदनाओं से कसमसा कर उनसे संघर्ष कर लहूलुहान होती उनकी मूल्य चेतना का उद्घाटन किया। इस प्रकार ये नारियां एक ही साथ सामान्य नारी भी लगती हैं और मूल्यों के लिए जूझती विशिष्ट नारी भी। किन्तु इनके दोनों रूप अलग-अलग नहीं हैं, दोनों एक दूसरे में गुथे हैं। वे वेदना में हाहाकार करती हुई संभल जाती हैं और मूल्य चेतना के दबाव में संयत होती हुई एकाएक हाहाकार करने लगती हैं—

मुझे फूल मत मारो
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।

कामदेव की पीड़ा से बेहाल उर्मिला संभल जाती है और काम को चुनौती देती हुई कह उठती है—

बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह, यह हर नेत्र निहारो।

यशोधरा गौतम के तप, यश आदि के प्रति अपने को लगातार आश्वस्त करती हुई बीच-बीच में बेहाल हो जाती है :

आओ हो वनवासी
अब गृहभार नहीं सह सकती, देव तुम्हारी दासी।

गुप्त जी ने पारंपरिक सीमा में ही सही इन नारियों को उनकी अस्मिता प्रदान की है। वे स्वाभिमानिनी हैं, सोचने विचारने वाली हैं, अपने परिवेश के प्रति करुणाशील हैं। उर्मिला अपने वियोग में खो नहीं जाती बल्कि परिवेश के सभी दुखी जनों तथा प्राणियों के प्रति सचेत हो उठती है, उनकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझने लगती है। उसका दर्द परिवेश के दर्द से और भी बड़ा हो उठता है और मूल्यवान भी। यशोधरा में अद्भुत मानबोध है। वह दर्द झेल कर भी अपने को दयनीय नहीं बनाती। गौतम के आने पर भी वह अपने को कमजोर या अधीर नहीं

बनाती बल्कि स्वाभिमान तथा प्रेम के विश्वास से तनी रहती है।

''विष्णुप्रिया'' में तो कवि और आगे बढ़ गया है। इसमें चैतन्य की मां शची और पत्नी विष्णुप्रिया दोनों में आधुनिक नारी-सुलभ असंतोष तथा ईषत् विद्रोही दृष्टि लक्षित होती है। ये दोनों अंततोगत्वा भारतीय मां और पत्नी हैं; अतः दोनों चैतन्य की मंगल-कामना में ही अपना सुख मानती हैं उनकी व्यथा से व्यथित होती हैं किन्तु दोनों मन से चैतन्य के गृहत्याग के कार्य को न्यायसंगत नहीं मान पातीं। विष्णुप्रिया की यह उक्ति हमारी व्यवस्था पर कितनी बड़ी चोट है—

नारी निकले तो असती है, नर यती कहा कर चल निकले।

इसी प्रकार जब नित्यानंद चैतन्य महाप्रभु का आदेश पाकर गृहस्थी बसाने लौट आता है तब शची मानो अपनी धारणाओं और जीवन-मान्यताओं की विजय देखकर विष्णुप्रिया से कहती है—

जीत हुई तेरी बहू हारा वह अंत में

गुप्त जी ने मानववाद के एक और आयाम को बार-बार रेखांकित किया है—वह है पाप और उसका प्रायश्चित। कैकेयी राम को कितना मानती थी—यह तो सभी कहते आये हैं किन्तु एक बार अपने स्वार्थवश वह जो गिरी तो फिर किसी ने उसके भीतर झांकने की कोशिश नहीं की। क्या यह संभव है कि राम को इतना चाहने वाली स्त्री एक बार स्वार्थवश गिर कर गिरी ही रह जायेगी, क्या राम के प्रति उसका बद्धमूल प्यार फिर उठने के लिए जोर नहीं मारेगा और वह अपने किये पर पछतावा नहीं करेगी? यदि उसका पछतावा स्वयं नहीं उठता तो क्या जनसमूह के दबाव से भी नहीं उठेगा? सारी प्रजा राम के लिए हाहाकार कर रही है और कैकेयी पर थू-थू कर रही है क्या इस सामाजिक दबाव का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा होगा? और तो और जिस भरत के लिए उसने ये सारे कुकृत्य किये, उसके द्वारा भर्त्सना पाने पर उसे अपने कृत्य की निस्सारता का बोध नहीं हुआ होगा? अवश्य हुआ होगा लेकिन अब तक के कवियों की इस ओर दृष्टि नहीं गयी। गुप्त जी की नयी मानववादी दृष्टि ने इसे पहली बार देखा और इस सत्य को सहज स्वीकार किया कि पाप या गलती करना मनुष्य मात्र के लिए स्वाभाविक है किन्तु यदि वह अपनी भूल का बोध कर पश्चाताप करता है तो और भी ऊंचे उठ जाता है। कैकेयी में इस पश्चाताप की अपार संभावनाएं निहित थीं। गुप्त जी ने उन संभावनाओं का उपयोग किया। कैकेयी का पश्चाताप मानवीय सौंदर्य से जगमगा उठा है। एक ओर उसका गहरा पश्चाताप है—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रवि कुल में भी थी एक अभागिन रानी।

दूसरी ओर उसी से आघात पाने वाले तथा उच्च सामाजिक और मानवीय मूल्यों के प्रतिमान राम कह उठते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।

पश्चाताप जन्य कैकेयी के नये सौन्दर्य की स्वीकृति केवल व्यक्ति राम नहीं देते उनके साथ सभा भी देती है यानी समाज भी देता है—

पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई

दूसरा प्रसंग ''नहुष'' का दिखायी पड़ता है। नहुष अपनी अंधी कामवासना के कारण स्वर्ग से च्युत हो जाता है। च्युत हो जाना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। च्युत होने के बाद समाज की लांछना सहता हुआ मनुष्य बरबाद हो जाता है किन्तु मानववादी दृष्टि उसकी जिजीविषा को रेखांकित करती है। गलती के बाद फिर संभलने की उसकी चेष्टा को महत्व देती है। इसीलिए गिर कर नहुष कहता है—

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूं जो अभी
फिर भी उठूंगा और बढ़ के रहूंगा मैं
नर हूं, पुरुष हूं, मैं, चढ़के रहूंगा मैं।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में सर्वधर्म समभाव

—डॉ. सुवेश

मैथिलीशरण गुप्त की जन्म शताब्दी के वर्ष में मैथिलीशरण गुप्त उन लोगों के लिए भी प्रासंगिक हो गये हैं, जो उन्हें वैष्णव भक्तकवि और कभी साम्प्रदायिक कवि कह कर उनकी उपेक्षा करते रहे हैं अथवा जो उन्हें द्वितीय या तृतीय श्रेणी का कवि मान कर उनकी कविता से मुंह मोड़े रहे हैं। ऐसे लोगों में अन्य लोगों के अतिरिक्त कई प्रगतिशील आलोचक भी रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त की कविता के कई विवादास्पद पहलू हैं। एक पक्ष हिन्दू धर्म में उनका दृढ़ विश्वास और उनकी धार्मिक भावना भी है। इसी पक्ष पर यहां कुछ विवेचन करना चाहता हूं।

मैथिलीशरण गुप्त के बारे में यह कहना कठिन होगा कि वे धर्मनिरपेक्ष थे, जब तक हम धर्मनिरपेक्षता की मनमानी व्याख्या न करें, जैसी कि आजकल प्रायः की जाती है। गुप्त जी के व्यक्तित्व और कृतित्व में हिन्दू धर्म की चेतना इतनी मूलबद्ध है कि उन्हें धर्मनिरपेक्ष के बजाय धर्मसापेक्ष दृष्टिकोण रखने वाला कवि ही कहा जा सकता है। धर्मनिरपेक्षता वस्तुतः एक वस्तुवादी गैर-धार्मिक दृष्टिकोण है, जिसमें किसी भी संस्थागत धर्म की संकीर्णता के लिए गुंजाइश नहीं है। धर्म यदि विचार, चिंतन, विश्वास और आस्था के स्तर तक रहे, तो सभी धर्म महान हैं, पर अक्सर धर्म एक सम्प्रदाय और संस्था का रूप ले लेता है और फिर व्यावहारिक दबावों के कारण धर्म की मूल चेतना लुप्त हो जाती है, पाखण्ड और संस्थागत अनुशासन बच रहता है। ऐसे पाखण्ड के वातावरण में और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं के परिवेश में धर्मनिरपेक्षता एक उच्च जीवन मूल्य हो जाती है। पर आजकल धर्मनिरपेक्षता को एक वैज्ञानिक, बुद्धिवादी और गैर-धार्मिक दृष्टिकोण के बजाय सर्वधर्म समभाव के रूप में व्याख्यायित किया जा रहा है, जिससे मैं सहमत नहीं हूं। इसीलिए मैंने मैथिलीशरण गुप्त को एक धर्मसापेक्ष कवि कहा है और अपने लेख का शीर्षक रखा है 'मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में सर्वधर्म समभाव'।

हिन्दू धर्म में और हिन्दू समाज की अनेक परम्परागत मान्यताओं में गुप्त जी का दृढ़ विश्वास था और हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान और हिन्दू समाज की प्रगति के लिए आवाज उठाने वाले तत्युगीन कवियों में गुप्त जी का स्वर सबसे ऊंचा था, पर इस आधार पर उन्हें साम्प्रदायिक कवि सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस विषय पर बाद में विचार किया जायेगा। पहले यह देख लिया जाय कि हिन्दू धर्म में उनकी आस्था किस प्रकार की थी।

हिन्दू धर्म किसी एक ईश्वर या एक देवी-देवता के प्रति निष्ठा के आधार पर विकसित होने वाला अथवा एक अवतार या पैगम्बर द्वारा चलाया जाने वाला एक निश्चित धर्म नहीं है। इसीलिए डा० राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म को एक धर्म के बजाय जीवन पद्धति की संज्ञा दी है।

हिन्दू धर्म, जो प्राचीनकाल में वैदिक धर्म, आर्य धर्म और ब्राह्मण धर्म के नाम से जाना जाता था, एक लम्बी विकास-यात्रा के बाद हिन्दू धर्म बना। भारत के आर्यों को हिन्दू नाम और उनके धर्म को हिन्दू धर्म की संज्ञा मुख्यतः ईरानियों और अरबों द्वारा दी गयी। इस प्रकार हिन्दू धर्म में अनेक आर्य और अनार्य मान्यताएं ही आकर नहीं मिलती रहीं, बल्कि उसने विदेशियों द्वारा दिये गये नाम को भी स्वीकार कर लिया। हिन्दू धर्म में निर्गुण ब्रह्म और सगुण ईश्वर में विश्वास रखने वाले लोग और उनकी विभिन्न उपासना पद्धतियों के साथ किसी भी ईश्वर में विश्वास न रखने वाले नास्तिक और उनके नास्तिक दर्शन भी हैं। यह बात दूसरी है कि हिन्दू धर्म और दर्शन कुल मिलाकर आस्तिक ही बना रहा।

हिन्दू धर्म की इस वैचारिक विविधता और समन्वयात्मक प्रकृति की पृष्ठभूमि में मैथिलीशरण गुप्त की धार्मिक चेतना को देखा जाय तो कहा जा सकता है कि वे सगुण ईश्वरवादी अथवा मूर्तिपूजक थे। राम उनके आराध्य थे पर कृष्ण के प्रति भी उनका अनुराग था। तभी तो उन्होंने महाभारत के अनेक प्रसंगों और चरित्रों पर लेखनी चलाई, जिससे कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व का उद्घाटन हुआ। इस प्रकार गुप्त जी को वैष्णव भक्त कवियों की परम्परा से भी जोड़ा जा सकता है। पर वे ऐसे सगुण ईश्वरवादी और वैष्णव कवि थे, कि उनकी किसी भी रचना में निर्गुण ब्रह्म के मानने वालों अथवा गैर-वैष्णवों की निंदा नहीं की गयी है। अन्य धर्मों के प्रति भी मैथिलीशरण गुप्त की यही उदार दृष्टि थी। यह उदार धार्मिक चेतना उनके काव्य में पहली बार प्रकट नहीं हुई थी, बल्कि उन्हें भक्त कवियों की पुरानी परम्परा से मिली थी, जिसका उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से विकास करना चाहा।

वस्तुतः हिन्दू धर्म के बारे में मैथिलीशरण गुप्त का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक न होकर मानवतावादी था। सन १९२७ ई. में प्रकाशित "हिन्दू" नामक काव्य-संग्रह की 'धर्मानुशासन' शीर्षक कविता में गुप्त जी ने लिखा था—

हिन्दू धर्म कि मानव धर्म,
हैं अभिन्न दोनों का मर्म। (पृष्ठ १५४)

वे धर्म को पन्थ अथवा सम्प्रदाय से अलगाते हैं और "भारत-भारती" के वर्तमान खण्ड में, "हिन्दू" की अनेक कविताओं में तथा अन्य रचनाओं में हिन्दू धर्म के मानवतावादी तत्व और उसकी उदार समन्वयात्मक चेतना पर बल देते हैं। गुप्त जी ने और उनके समकालीन कवियों में से किसी ने हिन्दू धर्म की तात्विक व्याख्या नहीं की, पर गुप्त जी की अनेक कृतियों से

स्पष्ट है कि वे हिन्दू धर्म के रूढ़, साम्प्रदायिक, संकीर्ण और जड़ आचरणवादी पक्ष के बजाय उसके उदार, मानवतावादी और तात्विक पक्ष पर बल देना चाहते थे। "भारत-भारती" के अतीत खण्ड में उन्होंने हिन्दू धर्म, और प्राचीन आर्य संस्कृति की ठीक उसी तरह मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, जैसे अल्ताफ हुसैन हाली ने उर्दू में 'मुसद्दस मद आं ज़जइस्लाम' में ('मुसद्दस हाली' के नाम से प्रसिद्ध) इस्लाम और उसके गौरवशाली अतीत की दिल खोल कर तारीफ की है। पर हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में गुप्त जी के विचारों को जानने के लिए "भारत-भारती" का वर्तमान खण्ड अधिक उपयोगी है। अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं। एक उद्धरण देखिये :

पर अब पंथों को ही यहां पर धर्म हैं हम मानते,
करके परस्पर घोर निन्दा व्यर्थ ही हठ ठानते।

(भारत-भारती, पृष्ठ १३२, ३५वां संस्करण)

पहली पंक्ति में धर्म को पन्थ से अलग करके देखने का आग्रह है। "हिन्दू" नामक पुस्तक की 'जातीयता' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों की अक्सर चर्चा की जाती है—

सब कुछ गया, जाय, बस एक
रक्खो हिन्दूपन की टेक। (पांचवां संस्करण, पृष्ठ ६३)

संभव है कि ये पंक्तियां किसी आलोचक के लिए गुप्त जी को पुनरुत्थानवादी और साम्प्रदायिक कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हों। पर इसी पुस्तक में 'स्वाभिमान', 'समन्वय', 'धर्मानुशासन', और 'अन्य जातियां' शीर्षक कविताएं भी हैं, जो उन्हें पुनरुत्थानवादी और साम्प्रदायिक कवि सिद्ध नहीं करतीं। गुप्त जी हिन्दू धर्म के पक्षधर हैं, पर वे उसके जड़, रूढ़िवादी, अनुपयोगी और भेदवादी स्वरूप का पुनरुत्थान नहीं चाहते। वे हिन्दू धर्म को एक आधुनिक, उदार, मानवतावाद के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उनमें 'हिन्दूपन की टेक' का आग्रह उनकी आधुनिक चेतना के साथ है। उनकी चेतना चाहे पूरी तरह आधुनिक न हो, पर वह आधुनिक विचारों की ओर बढ़ने के लिए उत्सुक अवश्य है। उन्होंने "भारत-भारती" तथा "हिन्दू" जैसी कृतियों में मुख्य रूप से हिन्दुओं का आह्वान किया है, पर वे अन्य जातियों के हित और उनकी आकांक्षाओं को अनदेखा नहीं करते। 'अन्य जातियां' कविता में वे लिखते हैं :

देख तुम्हारा यह उद्योग
न सशंक हों दूसरे लोग,
'सर्वभूत हितरत' निज धर्म
है अभिन्न हम सब के मर्म।

(हिन्दू, पांचवां संस्करण, पृष्ठ २४५)

यहां वे 'निज धर्म' को 'सर्वभूत हितरत' बताते हैं। उनकी धार्मिक उदारता का प्रमाण देने वाली इसी संग्रह की अन्य कविताएं भी हैं, जिनमें से कुछ के शीर्षक हैं—'पारसियों के प्रति', 'मुसलमानों के प्रति',

'ईसाइयों के प्रति'। इन कविताओं में उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति सद्भावना और उनके धर्मों के प्रति आदर तथा सहनशीलता प्रकट की है। ऐसी कविताओं के बावजूद मैथिलीशरण को राष्ट्रीय कवि के बजाय हिन्दू कवि सिद्ध करना उनके साथ अन्याय करना है। पर पूर्वाग्रह का चश्मा लगाने वालों ने महात्मा गांधी को हिन्दुओं का ही नेता माना। ऐसे चश्मे आज भी अनेक आलोचकों के पास हैं।

गुप्त जी की उदार धार्मिक चेतना का ही यह परिणाम था कि वे भारत के स्वतंत्रता संग्राम में 'हिन्दू महासभा' जैसी साम्प्रदायिक संस्था के साथ नहीं गये, बल्कि साम्प्रदायिक एकता के आधार पर स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले दल कांग्रेस के आन्दोलनों में उन्होंने सक्रिय भाग लिया। उनकी धार्मिक चेतना तत्कालीन 'राष्ट्रवाद' में रूपांतरित हो गयी।

इस सम्बन्ध में एक और तथ्य की ओर संकेत करना रोचक होगा। मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति, आर्य संस्कृति की चर्चा बार-बार आयी है और उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति का बड़ा गुणगान किया है, पर उनकी रचनाओं के विशाल भण्डार में एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जिसमें उन्होंने भारत में 'हिन्दू राज्य' की स्थापना की आवश्यकता बताई हो अथवा स्वतन्त्र भारत की परिकल्पना 'हिन्दू भारत' के रूप में की हो। मैंने अपने शोधग्रंथ 'आधुनिक हिन्दी और उर्दू काव्य की प्रवृत्तियां' (१९७४ में प्रकाशित) में लिखा था—"मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के माध्यम से विश्व प्रेम की प्रेरणा दी, पर वे अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दू राज्य तो क्या भारतवर्ष में अलग 'हिन्दू राज्य' की कल्पना तक नहीं कर सके। उन्होंने स्वतन्त्र भारत के उस रूप की कल्पना की, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सभी जातियों के लोग बराबर के साझीदार हों।"[1]

हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठा रखते हुए भी मैथिलीशरण गुप्त इस्लाम, सिख, ईसाई, पारसी धर्मों के प्रति सहिष्णुता ही नहीं आदर की भावना भी रखते थे। इसका प्रमाण उनकी छुटपुट रचनाओं से ही नहीं, 'काबा और कर्बला', 'गुरुकुल', 'गुरु तेग बहादुर' जैसी काव्य कृतियों, 'हिन्दू' की अनेक कविताओं, 'सिद्धराज' के कुछ स्थलों और 'जय भारत' जैसे पूरे काव्य में भी मिलता है। इसलिए उन्हें 'सर्वधर्म समभाव' का कवि कहा जा सकता है। यह 'सर्वधर्म समभाव' अन्य धर्मों के प्रति आदर-भावना, उनके गौरवशाली इतिहास के वर्णन, धार्मिक समन्वय, और साम्प्रदायिक एकता के आह्वान में देखा जा सकता है। गुप्त जी ने 'भारत भारती', 'हिन्दू', 'स्वदेश संगीत', 'सिद्धराज', 'कुणाल गीत', 'जय भारत' आदि ग्रन्थों में जहां हिन्दू धर्म की गौरवगाथा गाई और भारत के उज्जवल इतिहास की ओर हिन्दुओं का ध्यान आकृष्ट कर

---

१. सुधेश, आधुनिक हिन्दी और उर्दू काव्य की प्रवृत्तियां, पृष्ठ ७१, १९७४ का संस्करण।

उन्हें उन्नति के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी, तो 'काबा और कर्बला' में उन्होंने इस्लाम के प्रति आदर प्रकट किया और अरब भूमि में इस्लाम के उदय, हजरत मुहम्मद के त्यागमय जीवन, काबा में घटी ऐतिहासिक घटनाओं, कर्बला के मैदान में हजरत हसन और हुसैन की वीरतापूर्ण शहादत, मुगल सम्राट अकबर और ताजमहल का वर्णन किया। इस पुस्तक के दो खण्ड हैं। 'काबा' में मुस्लिम इतिहास विषयक विभिन्न प्रसंगों का वर्णन है और 'कर्बला' खण्ड में हजरत हसन हुसैन की शहादत की करुण कथा है। वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता की ओर भी गुप्त जी की दृष्टि गयी है और पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"हुसैन के साथ कुछ आर्यों अथवा हिन्दुओं ने भी कर्बला के नरमेध में आत्माहुति दी थी। . . . प्रेमचन्द ने भी इसका ऐतिहासिक प्रमाण पाया था।"[1] इस्लामी इतिहास में गुप्त जी द्वारा रुचि लेना अकारण नहीं था। इसका कारण यह था कि वे इस्लामी इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों और इस्लाम के उच्च आदर्शों से हिन्दुओं को परिचित कराके इस्लाम के प्रति सामान्य हिन्दू जनता की सहिष्णुता और रुचि जागृत करना चाहते थे और हिन्दी भाषी मुसलमानों को भी इस्लामी आदर्शों का पालन करने की प्रेरणा देना चाहते थे। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे हिन्दू धर्म के साथ इस्लाम और सिख धर्म आदि अन्य धर्मों के उच्च आदर्शों के प्रेमी और उनके गौरवशाली अतीत के भी गुणगायक थे? कर्बला में हुए ऐतिहासिक संग्राम के बारे में उन्होंने लिखा :

नंगी होकर नची जहां वह दानवता है
मर मर कर बची यहां यह मानवता है!
मात्र बहत्तर मनुज इधर थे डेरे डाले,
पशु बाइस सहस्र उधर वे लड़ने वाले।[2]

हसन हुसैन के दल में केवल ७२ व्यक्ति थे, पर यजीद की सेना में बाईस हजार लड़ाकू थे। इस असमान युद्ध में हसन हुसैन और उनके परिवार के बच्चे और औरतें मारी गयीं, पर उनकी शहादत ने सत्य की विजय को ही घोषित किया।

उक्त पुस्तक के 'काबा' खण्ड में अकबर की प्रशंसा करते हुए मैथिलीशरण ने लिखा—

प्रकट त्रिवेणी तट के मन में
एक और संगम की चाह,
हिन्दू मुसलमान का मानस
मिलन तीर्थ वह महा प्रवाह।

१. काबा और कर्बला, पांचवा संस्करण, १९६९, पृष्ठ ४।
२. वही, पृष्ठ ८१।

राम रहीम धाम होगा तब
वही दुर्ग संहत सन्नाह,
उस मन्दिर का आदि पुजारी
स्वयंसिद्ध तू अकबर शाह।[1]

अकबर के वैभव और साम्राज्य के बजाए गुप्त जी की दृष्टि अकबर-कालीन 'मिलनतीर्थ' और 'राम रहीम धाम' पर गयी। यह सांस्कृतिक संगम उनके दिल के बहुत पास था।

"भारत-भारती" में हिन्दुत्व की रक्षा का प्रबल आग्रह है और उन वीरों की दिल खोल कर प्रशंसा की गयी है, जो हिन्दू धर्म की रक्षा में आगे रहे। इस प्रसंग में कवि ने इस्लामी शासन की क्रूरता की आलोचना भी की। एक उद्धरण है—

रहते यवन थे रक्तरंजित तीक्ष्ण असि ताने खड़े,
चोटी नहीं, तो हाय! हम को शीश कटवाने पड़े।
जीते हुए दीवार में हम लोग चिनवाये गये,
बल से असंख्य आर्य यों इस्लाम में लाये गये।[2]

औरंगजेब के जमाने में गुरु गोविन्द सिंह के बेटे जीते जी दीवार में चिनवाये गये थे। यह जहां औरंगजेब की क्रूरता पर टिप्पणी है, वहां सिख गुरु और उनके बेटों को 'आर्य' शब्द से याद किया गया है, क्योंकि वे हिन्दू धर्म के रक्षक थे। "भारत-भारती" में अगले ही पृष्ठ पर लिखा गया है—

ऐसा नहीं होता कि सारी जाति कोई क्रूर हो,
सम्भव नहीं कि समाज भर से ही सदयता दूर हो।
अतएव ऐसे भी यवन सम्राट कुछ हैं हो गये,
जातीय पंक-कलंक को जो कीर्ति-जल से धो गये।[3]

यहां अकबर की उदार नीति और सदाशयता की ओर संकेत है। तात्पर्य यह कि अन्य धर्मों और जातियों के प्रति घृणा-विद्वेष मैथिलीशरण के काव्य में नहीं है।

"गुरुकुल" और "गुरु तेगबहादुर" काव्य कृतियों में गुप्त जी ने सिख गुरुओं के उच्च विचारों और उनके अमर बलिदानों को बड़ी श्रद्धा से याद किया है। सिख लोगों को, जैन और बौद्धों की तरह, वे आर्य जाति का अंग मानते थे। "गुरुकुल" में सिख गुरुओं के मुस्लिम शासकों से हुए युद्धों और उनके बलिदान की कहानी है। इस प्रसंग में साम्प्रदायिक विद्वेष की अभिव्यक्ति का अवसर था, पर गुप्त जी ने कहीं भी साम्प्रदायिक संकीर्णता का बेसुरापन नहीं आने दिया। यह उनके

१. वही, पृष्ठ ५९।
२. भारत-भारती, २८वां संस्करण, पृष्ठ ८२।
३. वही, पृष्ठ ८३।

सर्वधर्म समभाव के कारण ही सम्भव हुआ । कवि ने गुरु गोविन्द सिंह के मुख से कहलवाया है :

यवनों का हिन्दू विरोध ही मुझे किये हैं यवन विरुद्ध,
और नहीं तो मनुज मात्र में रखता हूं मैं समता शुद्ध ।[1]

सिख धर्म के इतिहास में बन्दा वैरागी एक बलिदानी व्यक्तित्व है । "गुरुकुल" में गुप्त जी ने बन्दा वैरागी के मुख से भी मुस्लिम जाति के लिए प्रेमपूर्ण उद्गारों की व्यंजना कराई है । एक स्थल पर बन्दा वैरागी कहता है :

हिन्दू मुसलमान कोई हो जो सच्चा है वही मनुष्य,
देव और दानव दोनों ही बन सकता है यही मनुष्य ।[2]

"हिन्दू" काव्य संग्रह में 'विस्मृति' शीर्षक कविता में गुप्त जी जहां यह लिखते हैं :

दुर्बल हो तुम क्यों हे तात ।
उठो हिन्दुओ, हुआ प्रभात ।[3]

वहां 'स्वाभिमान' शीर्षक कविता में वे हिन्दू धर्म के रक्षकों में चम्पत, छत्रसाल के साथ गुरु गोविन्द सिंह और राजा रणजीत सिंह के नामों का भी उल्लेख करते हैं । उनके शब्द हैं :-

चम्पत, छत्रसाल अरिकाल
बने हिन्दवानें की ढाल ।
गुरु गोविन्द और रणजीत,
रखते थे निज भाव पुनीत ।
बने आज सिख हम से भिन्न,
हों यों क्यों न आप उच्छिन्न ।
परमत हों कितने ही अन्ध,
अक्षय है शोणित सम्बन्ध ।[4]

अन्तिम पंक्ति में हिन्दुओं और सिखों के खूनी रिश्ते की तरफ इशारा किया गया है । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गुप्त जी की धार्मिक चेतना इतिहास बोध पर आधृत है । भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास और उसमें विभिन्न धर्मों, जातियों, नस्लों और क्षेत्रों के लोगों के महत्वपूर्ण योगदान की गहरी जानकारी के बाद ही वह उदार धार्मिक चेतना पायी जा सकती है, जिसे यहां 'सर्वधर्म समभाव' कहा गया है ।

गुप्त जी की पुस्तक का नाम "हिन्दू" है, पर उसमें 'पारसियों के

१. गुरुकुल, संवत् २०१४ का संस्करण, पृष्ठ १८९ ।
२. वही, पृष्ठ २३० ।
३. हिन्दू, पांचवां संस्करण, पृष्ठ २९ ।
४. वही, पृष्ठ ६८-६९ ।

प्रति', 'मुसलमानों के प्रति', 'ईसाइयों के प्रति', 'अंग्रेजों के प्रति' शीर्षक कविताएं भी हैं । इस पुस्तक के सम्बंध में यह कहना कि गुप्त जी ने पारसियों, मुसलमानों और ईसाइयों को हिन्दू धर्म की महिमा समझाते हुए उन्हें हिन्दू धर्म अपनाने की ही सलाह दी, और सब को हिन्दू बना कर उन्होंने साम्प्रदायिकता की समस्या को सुलझाने का मार्ग निकाला, यह गुप्त जी की धार्मिक चेतना की मनमानी और भ्रष्ट व्याख्या है । इन कविताओं को पढ़कर कवि के मुख्य भाव को समझा जा सकता है । 'मुसलमानों के प्रति' शीर्षक कविता का यह अंश देखिए :

रहे तुम्हारा कुछ भी बोध
हम को तुमसे नहीं विरोध,
मातृभूमि का नाता मान
है दोनों के स्वार्थ समान ।[1]

प्रथम दो पंक्तियों में मुसलमानों के 'बोध' अथवा उनके विश्वास को बदलने के बजाए उसके साथ अविरोध का भाव है । एक दूसरी कविता 'ईसाइयों के प्रति' का यह अंश भी अवलोकनीय है :

लेकर भी यूरुप का धर्म, श्वेत न हुआ तुम्हारा चर्म,

* * *

देख कहीं औरों की बाट, खो दो तुम घर और न घाट,
बन्धु यहीं वह भारत शिष्ट, हुए जहां ईसा उपदिष्ट ।[2]

यहां कवि उन ईसाइयों के प्रति सम्बोधित है, जो पहले हिन्दू थे । उन्हें ईसाइयत छोड़कर दुबारा हिन्दू बनने की प्रेरणा नहीं दी गयी है, बल्कि उन्हें यूरोप के बजाय भारत से जुड़ने की प्रेरणा दी गयी है । इसी उद्देश्य के लिए तर्क दिया गया है कि भारत में ईसा भी उपदिष्ट हुए थे अर्थात ईसा भी ज्ञान की खोज में भारत आए थे और उन्हें यहां आध्यात्मिक प्रेरणा मिली थी । यदि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ईसा भारत में उपदिष्ट हुए थे और कवि उसका हवाला देकर ईसाइयों को भारत से जुड़ने की प्रेरणा देता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उन्हें हिन्दू धर्म में लौट आने की प्रेरणा दे रहा है ।

एक अन्य कविता 'समन्वय' में गुप्त जी ने लिखा—

होकर भी विभिन्न मतनिष्ठ,
बन सकते हैं बन्धु वरिष्ठ ।[3]

यहां भी विभिन्न मत में निष्ठा रखने का विरोध नहीं किया गया है, वरन् 'विभिन्न मतनिष्ठ' होते हुए भी बन्धुत्व के सूत्र में बंधने की संभावना प्रकट की गयी है । अतः स्पष्ट ही यह कहना गलत है कि मैथिली-

१. वही, पृष्ठ २५७ ।
२. हिन्दू, पांचवां संस्करण, पृष्ठ २७३ ।
३. वही, पृष्ठ २४४ ।

शरण गुप्त ने दूसरे धर्मों में विश्वास रखने वालों को हिन्दू बनने की प्रेरणा देकर साम्प्रदायिकता की समस्या का हल निकालने की कोशिश की। क्या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिकता को मिटाया जा सकता है ? यह आलोचक की कपोल कल्पना हो सकती है, अथवा आलोचना के क्षेत्र में अभी प्रवेश करने के उत्साह से उत्पन्न एक बहक हो सकती है।

वस्तुत: "भारत-भारती" में भी साम्प्रदायिक भावना प्रबल नहीं है। हां, उसमें स्वधर्म चेतना अवश्य प्रबल है। मेरे विचार में स्वधर्म चेतना अनिवार्यत: साम्प्रदायिक भावना नहीं होती। स्वधर्म के प्रति कट्टरता जब अन्य धर्म के प्रति घृणा-विद्वेष और विरोध-भावना में रूपान्तरित हो जाती है, तब ऐसी स्वधर्म चेतना को साम्प्रदायिक भावना अथवा साम्प्रदायिकता का नाम दिया जा सकता है। जो धार्मिक चेतना और साम्प्रदायिकता में अन्तर नहीं करते, उन्हें मैथिलीशरण गुप्त साम्प्रदायिक कवि लगें तो आश्चर्य की बात नहीं है। तब तो हिन्दी का सारा भक्तिकालीन साहित्य साम्प्रदायिक साहित्य कहा जायगा। वस्तुत: साम्प्रदायिकता धार्मिक संकीर्णता और असहिष्णुता से उत्पन्न दृष्टिकोण है, जो अन्य धर्म के प्रति घृणा और विद्वेष में प्रकट होता है। इस धार्मिक संकीर्णता एवं असहिष्णुता के मूल में स्वधर्म के अज्ञान और सच्ची धार्मिक चेतना के अभाव के साथ आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ भी होते हैं। साम्प्रदायिकता के कारण प्राय: आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ होते हैं, जो धार्मिक आवरण में प्रकट होने के लिए विवश हैं। क्या "भारत-भारती" में अथवा मैथिलीशरण गुप्त की अन्य रचनाओं में अन्य धर्मों के प्रति घृणा-विद्वेष और विरोध-भावना है ? स्थिति ठीक इसके विपरीत है।

शिवदान सिंह चौहान ने तो मैथिलीशरण के साथ द्विवेदी युगीन सभी कवियों को एक ही लाठी से हांकते हुए उन्हें हिन्दू पुनरुत्थानवादी और मुस्लिम विरोधी साम्प्रदायिकता और राजभक्ति से सम्पन्न कवि बताते हुए लिखा—"उनका देशप्रेम एक ओर हिन्दू पुनरुत्थानवाद की मुस्लिम विरोधी साम्प्रदायिकता तो दूसरी ओर राजभक्ति की अवसरवादिता के संकीर्ण घेरे में ही अन्त तक चक्कर काटता रहा . . . छायावादी काव्यधारा के फूट पड़ने से पहले तक के हिन्दी कवि इस संकीर्ण घेरे का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पाये।"[1] शिवदान सिंह चौहान ने मैथिलीशरण गुप्त और द्विवेदी युगीन कवियों पर ही अपने पूर्वाग्रह का आरोप नहीं किया, बल्कि हिन्दी के सारे साहित्य को अस्सी वर्षों तक सीमित कर ("हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष" नामक पुस्तक में) उन्होंने उसे भी पूर्वाग्रह के चश्मे से देखा।

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५६-५७।

अन्त में कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज के कल्याण और उसके आधुनिकीकरण में विशेष रुचि के साथ-साथ इस्लाम, सिख धर्म, ईसाई धर्म, पारसी आदि धर्मों के उच्च आदर्शों और इन धर्मों के अनुयायियों के कल्याण एवं प्रगति की कामना भी छिपी है। उसमें साम्प्रदायिकता के बजाय साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया गया है। धार्मिक चेतना उनके काव्य की एक सीमा हो सकती है, पर वे वास्तविक अर्थों में धर्मनिरपेक्ष कवि न होकर 'सर्वधर्म समभाव' के कवि हैं।

शरण गुप्त ने दूसरे धर्मों में विश्वास रखने वालों को हिन्दू बनने की प्रेरणा देकर साम्प्रदायिकता की समस्या का हल निकालने की कोशिश की। क्या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से साम्प्रदायिकता को मिटाया जा सकता है ? यह आलोचक की कपोल कल्पना हो सकती है, अथवा आलोचना के क्षेत्र में अभी प्रवेश करने के उत्साह से उत्पन्न एक बहक हो सकती है।

वस्तुतः "भारत-भारती" में भी साम्प्रदायिक भावना प्रबल नहीं है। हां, उसमें स्वधर्म चेतना अवश्य प्रबल है। मेरे विचार में स्वधर्म चेतना अनिवार्यतः साम्प्रदायिक भावना नहीं होती। स्वधर्म के प्रति कट्टरता जब अन्य धर्म के प्रति घृणा-विद्वेष और विरोध-भावना में रूपान्तरित हो जाती है, तब ऐसी स्वधर्म चेतना को साम्प्रदायिक भावना अथवा साम्प्रदायिकता का नाम दिया जा सकता है। जो धार्मिक चेतना और साम्प्रदायिकता में अन्तर नहीं करते, उन्हें मैथिलीशरण गुप्त साम्प्रदायिक कवि लगें तो आश्चर्य की बात नहीं है। तब तो हिन्दी का सारा भक्तिकालीन साहित्य साम्प्रदायिक साहित्य कहा जायगा। वस्तुतः साम्प्रदायिकता धार्मिक संकीर्णता और असहिष्णुता से उत्पन्न दृष्टिकोण है, जो अन्य धर्म के प्रति घृणा और विद्वेष में प्रकट होता है। इस धार्मिक संकीर्णता एवं असहिष्णुता के मूल में स्वधर्म के अज्ञान और सच्ची धार्मिक चेतना के अभाव के साथ आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ भी होते हैं। साम्प्रदायिकता के कारण प्रायः आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ होते हैं, जो धार्मिक आवरण में प्रकट होने के लिए विवश हैं। क्या "भारत-भारती" में अथवा मैथिलीशरण गुप्त की अन्य रचनाओं में अन्य धर्मों के प्रति घृणा-विद्वेष और विरोध-भावना है ? स्थिति ठीक इसके विपरीत है।

शिवदान सिंह चौहान ने तो मैथिलीशरण के साथ द्विवेदी युगीन सभी कवियों को एक ही लाठी से हांकते हुए उन्हें हिन्दू पुनरुत्थानवादी और मुस्लिम विरोधी साम्प्रदायिकता और राजभक्ति से सम्पन्न कवि बताते हुए लिखा—"उनका देशप्रेम एक ओर हिन्दू पुनरुत्थानवाद की मुस्लिम विरोधी साम्प्रदायिकता तो दूसरी ओर राजभक्ति की अवसरवादिता के संकीर्ण घेरे में ही अन्त तक चक्कर काटता रहा . . . छायावादी काव्यधारा के फूट पड़ने से पहले तक के हिन्दी कवि इस संकीर्ण घेरे का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पाये।"[1] शिवदान सिंह चौहान ने मैथिलीशरण गुप्त और द्विवेदी युगीन कवियों पर ही अपने पूर्वाग्रह का आरोप नहीं किया, बल्कि हिन्दी के सारे साहित्य को अस्सी वर्षों तक सीमित कर ("हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष" नामक पुस्तक में) उन्होंने उसे भी पूर्वाग्रह के चश्मे से देखा।

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५६-५७।

अन्त में कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज के कल्याण और उसके आधुनिकीकरण में विशेष रुचि के साथ-साथ इस्लाम, सिख धर्म, ईसाई धर्म, पारसी आदि धर्मों के उच्च आदर्शों और इन धर्मों के अनुयायियों के कल्याण एवं प्रगति की कामना भी छिपी है। उसमें साम्प्रदायिकता के बजाय साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया गया है। धार्मिक चेतना उनके काव्य की एक सीमा हो सकती है, पर वे वास्तविक अर्थों में धर्मनिरपेक्ष कवि न होकर 'सर्वधर्म समभाव' के कवि हैं।

गुप्त जी का नारी विषयक दृष्टिकोण

—विश्वनाथ त्रिपाठी

मैथिलीशरण गुप्त को राष्ट्रकवि कहा गया। इस उपाधि से हिन्दी में किसी अन्य कवि को विभूषित नहीं किया गया। गुप्त जी को राष्ट्रकवि के विशेषण से सरकार ने नहीं, काव्य प्रेमियों ने अलंकृत किया। इसका कारण यह है कि हिन्दी क्षेत्र में राष्ट्रीय-भावना का प्रचार करने वाले कवियों में वे अग्रगण्य हैं। खड़ी बोली में रचित कोई अन्य काव्य "भारत-भारती" के समान लोकप्रिय नहीं हुआ। "भारत-भारती" की अनेक पंक्तियां हिन्दू पुनरुत्थानवाद और अंग्रेजों की प्रशंसा से दूषित हैं। किन्तु उसमें स्वदेशी की भावना प्रबल है, देश की सर्वांगीण प्रगति की प्रेरणा है। भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य को उसमें एक साथ रख कर देखा गया है। काव्य के क्षेत्र में यह कार्य अभूतपूर्व था। लिखा गया था यह काव्य 'मुसद्दस' की तरह। किन्तु ज्ञातव्य है कि हिन्दू-भावना को ही ध्यान में रख कर रचे गये इस काव्य का शीर्षक देश के नाम पर "भारत-भारती" है, 'हिन्दू-भारती' नहीं। गुप्त जी ने हिन्दू और भारत को बहुत दूर तक समानार्थक समझा है। वह उदार हिन्दूवादी कवि हैं। गुप्त जी की उदारता विकसित होती गयी है। उनमें कालानुसारी विकास की अप्रतिम क्षमता थी। उनकी वैष्णव-उदारता में संकीर्णता नहीं थी। उनकी हिन्दू-भावना राष्ट्रीय-भावना, धर्मनिरपेक्षता, और यहां तक कि समाजवाद के विरोध में नहीं खड़ी होती थी, बल्कि उनका सारतत्व अपना सकती थी।

यह अलग एवं महत्वपूर्ण विषय है कि स्वाधीनता आन्दोलन के प्रारम्भिक दौर में धर्म की भूमिका क्या थी। क्या यह तथ्य मनोरंजक और विचारोत्तेजक नहीं कि अधिकांश कौम-परस्त मुस्लिम नेता धार्मिक थे—मौलाना अबुल कलाम आजाद, मौलाना मदनी, अली-बंधु आदि। नरवणे ने 'आधुनिक भारतीय चिन्तन' नामक पुस्तक में लिखा है कि जवाहर लाल नेहरू पहले नेता हैं जो धार्मिक अपील के बिना लोकप्रिय हुए। गांधी से ही उनकी तुलना करने पर राजनीति में धार्मिक महत्व की बात स्पष्ट हो जाती है। इससे गुप्त जी की हिन्दू-भावना भी समझ में आ सकती है।

भारत विविधतापूर्ण और विशाल देश है। इसलिए आप कट्टर धार्मिकता के साथ पूरे देश के विकास की बात नहीं कर सकते। कट्टर धार्मिकता के आधार पर आप पाकिस्तान या खालिस्तान की बात तो सोच सकते हैं, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान की बात सोच सकते हैं, लेकिन भारत की नहीं। पूरे देश की चिन्ता करने वाले धार्मिक जनों की धर्म-

भावना को इसीलिए उदार होना पड़ा। गुप्त जी हिन्दू-भावना के कवि थे, लेकिन उन्होंने हजरत मुहम्मद, सिख गुरुओं, आदि पर भी लिखा।

गुप्त जी की नारी-भावना भी उनकी इसी उदार हिन्दू-भावना के अन्तर्गत है। गुप्त जी हिन्दू वर्ण-व्यवस्था का विरोध नहीं कर सकते। साथ ही वे नारी-जीवन के प्रति अपार सहानुभूति वाले कवि हैं। हो सकता है कि "साकेत" की रचना उन्होंने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से की हो, किन्तु 'यशोधरा', 'हिडिम्बा', 'जयिनी' आदि की रचना की प्रेरणा उन्हें किसी और से नहीं मिली। यह ध्यान देने की बात है कि गुप्त जी के प्रबन्ध काव्यों की अधिकांश प्रधान नारी-पात्र सवर्ण समाज की हैं। नायिकाएं ऐसी हैं जिनके पति किसी उद्देश्य के लिए उन्हें छोड़कर चले गये हैं। एक तरह से गुप्त जी की सभी प्रमुख नारी-पात्र उपेक्षिता हैं। नारी होना ही दया और करुणा का पात्र होना है। नारी की सार्थकता पुरुष को आकृष्ट करने में है। वह आजीवन पराश्रिता रहती है, बचपन में पिता की, यौवन में पति की और बुढ़ापे में पुत्र की। नारी स्वतंत्र नहीं होनी चाहिए। **न स्वातंत्र्यमर्हति**। उसकी स्थिति समाज में शूद्र जैसी होती है। डा. रामसरन शर्मा ने अपने एक लेख में विस्तार से दिखाया है कि प्राचीन धर्म-नीति-ग्रन्थों में स्त्री और शूद्र का सह-उल्लेख है। इसका मतलब यह है कि उनकी सामाजिक स्थिति समान थी। इसकी सबसे बड़ी पुष्टि तुलसीदास की उक्ति—'ढोर गंवार शूद्र पशु नारी . . .' से होती है। तुलसीदास की यह उक्ति परंपरा से चली आ रही थी।

नारी और पुरुष में जो प्राकृतिक भिन्नता है उसका परिणाम मानव-संस्कृति पर बहुत ज्यादा पड़ा है। लज्जा स्त्रियों का भूषण मूलतः इसी भिन्नता के कारण बनी। स्त्री-पुरुष के शारीरिक मिलन का परिणाम नारी को भुगतना पड़ता है। शारीरिक मिलन के पूर्व संकोच, पीछे हटने या मना करने की स्थिति से लज्जा का विकास हुआ होगा। मातृत्व मूलतः नारी की विवशता है। नारी शरीर की इस प्राकृतिक भिन्नता को वर्ग-विभक्त सामाजिक व्यवस्था दारुण बना देती है। अभी एक सोवियत समाजशास्त्री ने गर्भ-निरोधक दवाइयों के गुण-दोषों पर विचार करते हुए कहा कि इनका एक बहुत बड़ा गुण यह है कि ये मानव-इतिहास में पहली बार नारी को पुरुष की ही भांति शारीरिक-मिलन के परिणामों से मुक्त बने रहने का अवसर देती हैं। अस्तु।

थोड़ा विषयांतर करने का उद्देश्य नारी भावना को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने का औचित्य प्रकट करना था। मानवीय समाज-व्यवस्था नारी शरीर की भिन्नता को नारी की विवशता नहीं बनायगी। सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाएं नारी की स्थिति को दयनीय बना देती हैं। यद्यपि नारी के प्रति सम्मान का भाव भी इन युगों में उठता रहता है। गुप्त जी उन कवियों में प्रमुख हैं जो सामाजिक व्यवस्था को तो नहीं बदलना

चाहते, किन्तु उस व्यवस्था से उत्पन्न नारी-स्थिति में परिवर्तन चाहते हैं।

सामंती व्यवस्था के सवर्ण समाज में नारी पर पुरुष का लगभग पूर्ण अधिकार होता है। वह घर में रहती है। वह उत्पादन में हाथ नहीं बंटाती। उसकी नियति पैर की जूती बनने की होती है। पति उसके लिए भगवान होता है। अवर्ण समाज की नारी इतनी पुरुषाश्रित नहीं होती। अवर्णों की आर्थिक दुरवस्था अवर्ण नारी को आंशिक स्वतंत्रता भी प्रदान करती है। वे पुरुषों के साथ काम करती हैं, बाहर निकलती हैं, सती नहीं होतीं, पुनर्विवाह कर सकती हैं। सवर्ण नारी की स्थिति इस दृष्टि से अवर्ण नारी की अपेक्षा अधिक दारुण होती है। गुप्त जी ने अपने काव्य का विषय इसी नारी को बनाया है। कृषक-नारियों का चित्र गुप्त जी ने कम खींचा है। लेकिन जहां खींचा है तन्मयता के साथ। उनके ऐसे चित्र प्रगतिशील काव्य के अच्छे उदाहरण हैं। उनमें यथार्थ का रंग भी यथेष्ट गहरा है :

उन कृषक बधुओं की दशा पर नित्य रोती है दया,
हिम-ताप वृष्टि-सहिष्णु जिनका रंग काला पड़ गया।
नारी-सुलभ-सुकुमारता उनमें नहीं है नाम को
वे कर्कशांगी क्यों न हों देखो न उनके काम को।।
गोबर उठाती, थापती हैं, भोगती आयास वे,
वृष काटतीं, लेती परोहे, खोदती हैं घास वे।
गृह-कार्य जितने और हैं करती वही सम्पन्न हैं,
तो भी कदाचित् ही कभी भरपेट पाती अन्न हैं।।
कुछ रात रहते जागकर चक्की चलाने बैठतीं,
हम सच कहेंगे, उस समय वे गीत गाने बैठतीं।
पर क्या कहें, उस गीत से क्या लाभ पाने बैठतीं,
वे सुख बुलाने बैठतीं या दुख भुलाने बैठतीं।

मैथिलीशरण गुप्त के इस कृषक-नारी चित्रण का प्रभाव "साकेत" की सीता पर भी है—यह हम यथावसर देखेंगे।

मैथिलीशरण गुप्त के उल्लेखनीय एवं स्मरणीय नारी-पात्र "साकेत", "यशोधरा" आदि प्रबन्ध-काव्यों के हैं। स्त्री शिक्षा का वैचारिक आन्दोलन हिन्दी साहित्य में भारतेंदु के समय से ही चल चुका था। गांधी जी ने उसे व्यापक राजनीतिक रूप भी प्रदान किया। राजनीतिक आन्दोलन में महिलाओं ने हिस्सा लेना शुरू कर दिया था। जब हम संघर्ष कर रहे हैं तब प्राचीन संघर्षशील व्यक्तित्व हमारे लिए संदर्भवान हो उठते हैं। इस समय से साहित्य में सीता, राधा, सावित्री, लक्ष्मीबाई आदि का नाम नये अर्थ-गौरव के साथ साहित्य में सुनायी पड़ने लगा। इन व्यक्तियों में हमने युगीन आदर्श जोड़कर उन्हें अपने लिए संदर्भवान बना लिया। "प्रियप्रवास" की राधा, "साकेत" की उर्मिला, सीता,

कैकेयी, "यशोधरा" की यशोधरा इसी तरह की पात्र हैं। इन नारी पात्रों में सकर्मक होने की अपूर्व लालसा है। वे घर की चारदीवारी तोड़ना चाहती हैं। वे जीवन-संघर्ष में अपने प्रिय ही नहीं, देश और समाज के साथ होना चाहती हैं। देश के भाव-बोध में व्यक्ति का स्थान समाज ने ले लिया है। लेकिन मैथिलीशरण गुप्त की प्रमुख नारी-पात्र परिवार के वातावरण में बनी रहती हैं। उर्मिला, यशोधरा, विष्णुप्रिया ऐसी नारी-पात्र हैं जिनके पति तो घर छोड़ कर चले गये हैं, किन्तु वे घर में बनी हैं। गुप्त जी की रुचि ऐसे नारी पात्रों को चित्रित करने में अधिक रमी है। उनके प्रबन्ध-काव्य ऐसे ही नारी-पात्रों पर आधारित हैं। पति-त्यक्ता या पति द्वारा उपेक्षित नारी की स्थिति सवर्ण समाज में कितनी अपमानजनक होती है—इसे अलग से कहने की जरूरत नहीं।

मैथिलीशरण गुप्त उन कवियों में प्रमुख हैं जिन्होंने वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर रीतिकालीनता का निर्णायक विरोध किया। उन्होंने रीतिकालीनता का विरोध केवल तत्सम पदावली के सहारे नहीं किया। उनकी काव्य-भाषा में मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग काफी है। उनकी वाग्विदग्धता सर्वत्र काव्योत्कर्ष का साधक नहीं, किन्तु वाग्विदग्धता के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का उपयोग जरूरी है। उनके यहां तद्भव शब्दावली की भी छटा है। उनके यहां 'विचारोत्कृष्टता' और 'विषयोत्कृष्टता' ही नहीं हैं, **अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी। आंचल में है दूध और आंखों में पानी** जैसी परम उत्कृष्ट, मार्मिक पंक्तियां भी हैं, **अब थे वासर बीत गये** जैसी टेक भी हैं। उनकी भाषा पर उनकी मां-बोली बुन्देलखंडी की छाप है और उन्होंने क्षेत्रीय काव्यरूपों का उपयोग भी किया है। भाषा और काव्यरूप-प्रयोग कवि के लिए कोई ऊपरी चीज नहीं होते, वे उसके अंतरंग के सूचक होते हैं। रीतिकालीन मानसिकता का विरोध गुप्त जी रूप के स्तर पर भी कर रहे थे।

रीतिबद्ध काव्य दृष्टि सामन्ती एवं दरबारी दृष्टि थी। उसकी निगाह में नारी केवल भोग्या थी। वह अलंकार को ही सौन्दर्य मानती थी। नारी की अविकल मूर्ति रीतिबद्ध कविता में नहीं मिलती। अनेक हिन्दी अध्यापक भ्रमवश समझते-समझाते हैं कि रीतिकाल में नारी पर सबसे ज्यादा काव्य-रचना हुई। वे नायिकाओं को नारी का पर्याय समझते हैं। उनके लिए मां, बहन, आदि नारी रूप नहीं हैं। रीतिबद्ध कविता में नारी केवल नायिका या प्रिया है। गुप्त जी ने नारी को उसकी विविधता में चित्रित किया। उनके यहां मां, बहन, भाभी, जेठानी, देवरानी, विमाता सब मौजूद हैं। मैथिलीशरण गुप्त की नारी-भावना की सबसे बड़ी विशेषता भावना की व्याप्ति है। मैथिलीशरण गुप्त के विरोध में और चाहे जितनी बातें कही जायें, उन पर संकीर्णता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। जो लोग उन्हें साम्प्रदायिक सिद्ध करना चाहते हैं वे भूल जाते हैं कि उन्होंने हिन्दू शब्द को अर्थ-व्याप्ति दी है। उनके हिन्दू और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

के हिन्दू में अन्तर है। आप "यशोधरा" काव्य की अति प्रसिद्ध इन दो पंक्तियों पर विचार करें—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।

इसमें कहने की वाक्विदग्धता भी है। —दूध और पानी दोनों एक ही जगह है—होना भी चाहिए। प्रथम पंक्ति घोर सपाट है। दूसरी पंक्ति में वात्सल्य और शृंगार का संश्लेष है। दूसरी पंक्ति के किसी शब्द को बदला नहीं जा सकता। 'आंचल' के बदले कोई शब्द नहीं आ सकता, 'अंचल' भी नहीं। 'आंचल', 'दूध' के साथ मिलकर मातृत्व की गरिमा से मंडित है। गुप्त जी ने घोर शृंगार के विषय को शृंगार से कितना ऊपर उठा दिया है। 'तन' और 'स्तन्य' में कितना अन्तर है। 'आंचल में दीप छिपाए' से यह आंचल कितना भिन्न है। और इस नारी रूप के साथ 'आंखों में पानी' वाले नारी-रूप को मिला दिया गया है। 'आंखों के पानी' का मतलब केवल आंसू नहीं। वह तो है ही। लेकिन जो इसका अर्थ केवल आंसू लेंगे, उन्हें पूरा अर्थ-बोध नहीं होगा। आंखों का पानी का मतलब नारी-सुलभ लज्जा, संकोच आदि का समुच्चय होता है जो नारीत्व की विशेषता है। यह आंखों का पानी मन के क्षोभ को व्यक्त होने से रोकता है और उसे तीव्र बनाता है। गुप्त जी ने यहां नारीत्व को—रीतिकालीन नारी को—व्याप्ति दी है। उसके व्यक्तित्व को गाम्भीर्य भी प्रदान किया है। नारी का यह रूप नायिका-भेद वाली किसी भी नायिका से कितना भिन्न और कितना विकसित है।

यशोधरा राजकुमार सिद्धार्थ की पत्नी है। उसके विरहिणी-व्यक्तित्व में उसका मातृत्व भी जुड़ा है। इस दृष्टि से वह उर्मिला से भिन्न है। गुप्त जी ने उसके विरहिणी रूप को पुत्र-वधू, मां आदि रूपों के साथ-साथ विकसित किया है—यह नहीं कि विरह में वह सारी दुनिया और अपने कर्तव्य को भूल जाय। उर्मिला और यशोधरा विरहिणी होकर अपने कर्तव्यों के प्रति पहले से अधिक जागरूक हो जाती है। विरह का दुःख उन्हें जगत के दुःखों की पहचान कराता है। यशोधरा के विरहिणी रूप में उसका मातृत्व विकसित हुआ है। गुप्त जी पारिवारिक भावना के कवि हैं। पारिवारिकता को वे मानवीय गुणों का आधार-सा मानते प्रतीत होते हैं। पारिवारिक सम्बन्धों की मार्मिकता का चित्रण करने में उनका मन बहुत रमता है। देवर-भाभी, पति-पत्नी, सपत्नी—इन सम्बन्धों को गुप्त जी की कविता में चित्रित किया गया है। भारतीय समाज की इकाई अभी तक व्यक्ति नहीं परिवार रहा है। हमें सुख और दुःख ज्यादातर परिवार में ही मिलता है। गुप्त जी के पात्र पारिवारिकता के रस का स्वाद लेते हुए अक्सर दिखायी पड़ते हैं। यदि उनका चरित्र चित्रण किया जाय तो उनका व्यक्तित्व पारिवारिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ज्यादा उद्घाटित होगा। पात्रों पर पारिवारिकता का ऐसा प्रभाव तुलसीदास में नहीं, शायद बाल्मीकि में भी नहीं, केवल भवभूति में है। डा० नामवर सिंह का विचार

है कि गुप्त जी संयुक्त परिवार के टूटने के कवि ज्यादा हैं। जो कुछ हो, वे पारिवारिक भावना के कवि हैं और पारिवारिकता उनके यहां एक मूल्य है। उर्मिला, यशोधरा, मांडवी आदि पारिवारिकता से जुड़ी रह कर ही जीवन-संघर्ष में निरत हैं। इस प्रक्रिया में परिवार के अन्य सदस्य भी यथायोग्य साधक हैं। उर्दू काव्य में यह पारिवारिकता सबसे ज्यादा मीर अनीस के काव्य में मिलती है।

सीता का चरित्र अन्य नारी-पात्रों से अलग है। सीता का जीवन ठेठ महाकाव्यात्मक है। सीता के जीवन में जितना उतार-चढ़ाव, समता-विषमता है, वह अन्यत्र कहां! वस्तुतः उर्मिला के चरित्र को चाहे जितना खींचा-ताना जाय वह महाकाव्य नहीं बन सकता। इसीलिए यशोधरा पर महाकाव्य लिखने का हौंसला न करके गुप्त जी ने बहुत उचित किया। चित्रकूट का वास सीता के जीवन का सबसे सुखद अंश है। तुलसीदास ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है मानो वे किसी स्वप्न का चित्रण कर रहे हों—

राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी।
छिन-छिन पिय बिधु बदनु निहारी। मुदित मनहुं चकोर कुमारी।
नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिम कोकी।
सिय मनु राम चरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा।
परन कुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा।
सासु ससुर सम मुनि तिय मुनिबर। असनु अमिय सम कंद मूल फर।
नाथ साथ सोंथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई।

सीता को यह सुख राजमहल छोड़ कर मिला। वे राजमहल छोड़ कर ग्राम, पुर, वन, गिरि के जनों में घुलीं-मिलीं, तब यह सुख नसीब हुआ। यह रीतिकालीन नायिका से विपरीत नारी रूप है।

गुप्त जी की सीता का रूप कुछ अर्थों में तुलसीदास की सीता से विकसित है। गुप्त जी की सीता पर स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव है। स्वदेशी आन्दोलन की नैतिकता में श्रम भी है। तुलसीदास की सीता मानवी नहीं है। मानवी का अभिनय भी करती है तो तुलसीदास उनकी सर्वशक्तिमत्ता प्रायः उनसे जोड़े रहते हैं। इसलिए उन्हें श्रम करने की जरूरत नहीं थी। गुप्त जी सीता के माध्यम से आधुनिक नारी जीवन की आदर्श-मूर्ति भी गढ़ रहे थे। वह आदर्श-मूर्ति क्या है? नारी पुरुष के समान तब होगी जब वह आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होगी, जब वह स्वयं श्रम करके अर्जन करेगी। गुप्त जी की सीता दीर्घकालीन सामंती व्यवस्था की सवर्ण नारी के लिए दारुण स्थिति से उबरने का आदर्श प्रस्तुत करती है। चित्रकूट में सीता का वर्णन :

अंचल-पट कटि में खोंस कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन-मातृ गर्वमय कुशल वदन भव-भावन।

यह नई धज क्या है ?

औरों के हाथों यहां नहीं पलती हूं
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूं
श्रमवारी बिन्दु फल स्वास्थ्य-शुचि फलती हूं,
अपने अंचल से व्यंजन आप झलती हूं
तनुजाता-सफलता-स्वादु आज ही आया
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ।

प्राचीन कथा पर आधारित काव्यों के उत्कृष्ट स्थल वे होते हैं जहां कोई प्राचीन पात्र अतीत की माया को छिन्न-भिन्न किये बिना आधुनिकता का वाहक प्रतीक बन जाता है । प्राचीन कथा पर आधारित प्रबन्ध काव्यों की आधुनिकता प्रतीकार्थता के माध्यम से प्रकट होती है । इसमें आधुनिकता को अलग से आरोपित करने की जरूरत नहीं रहती । यहां सीता को ऐसी स्थिति में रखा गया है कि वे रामकथा के इतिहास-भूगोल से छिन्न हुए बिना हमारे युग का आदर्श बन गयी हैं । वह सवर्ण नारी हैं और श्रम करती हैं :

औरों के हाथों यहां नहीं पलती हूं,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूं ।

गुप्त जी की नारी भावना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आयाम सवर्ण नारी को श्रम से जोड़ने में है । यहां सीता बहुत कुछ उस कृषक नारी से मिलती-जुलती है जिसका उल्लेख हमने इस लेख के प्रारंभिक अंश में किया है ।

गुप्त जी के यहां श्रम शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है । 'जयिनी' नामक कविता में यह कई बार आया है । मार्क्स अपनी पत्नी जेनी को समझाते हैं—

जेनी, सुनो आदि में ही मूल है,
धन रूपी फल का परिश्रम ही मूल है ।
किंतु श्रमियों को फल मिलता है कितना ?
पूंजीपतियों का नहीं जुठन भी जितना ।

संवाद के अंत में जेनी मार्क्स से सहमत होती है । जेनी की अभिलाषा है कि सभी मार्क्स का सत्य सह सकें । मार्क्स और जेनी का यह कथनोपकथन ठेठ भारतीय पारिवारिक आत्मीयता के स्वर में होता है । गुप्त जी पारिवारिक या स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं चाहते । किंतु नारी को सम्मानित देखना चाहते हैं । वे यह भी जानते हैं कि स्वावलम्बी हुए बिना नारी को यह सम्मान नहीं मिलेगा । उनके सौन्दर्य-बोध में श्रम का महत्व है । इसीलिए वे नये सौन्दर्य-बोध के कवि हैं ।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में जन-चेतना

—ललित शुक्ल

मैथिलीशरण गुप्त की "भारत-भारती" सन् १९१८ में प्रारम्भ की गयी थी । सन् १९१२ में उन्होंने इस रचना की भूमिका में भी अपने राष्ट्र की स्थिति पर बहुत दुख प्रकट किया था । उस समय कवि अपने समय से हर प्रकार से प्रभावित हुआ था । पहले महासमर की संभावनाएं अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को भयाक्रांत कर रही थीं । समाज और राष्ट्र की गिरावट से गुप्त जी का नवयुवक कवि भलीभांति परिचित था । जिस समय पूरा राष्ट्र शासन की जकड़बंदी में कसमसा रहा हो, किसी भी संवेदनशील कवि की लेखनी का बोल पड़ना अत्यंत स्वाभाविक है । यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि मैथिलीशरण जी मूलतः और अन्ततः राष्ट्रवादी, धार्मिक भावनाओं के पक्षधर और परम्परावादी थे । इन क्षेत्रों में उनकी मान्यताएं बहुत स्पष्ट हैं ।

गुप्त जी की कविता की शुरूआत एक युवकोचित उत्साह, प्रेरणा और लगन का परिणाम है । उन्हें उस समय विदेशी शासन में इस बात का पक्का पता था कि इस महादेश की रीढ़ यहां के किसान हैं । एक खेतिहर देश में चारों ओर से शोषण की तलवारें किसान पर ही लटकी हुई थीं । कारण यह था कि राजन्य संस्कारों में पले सामन्त, जमींदार, हाकिम-हुक्काम सभी के लिए भारत का किसान ही वह दुधारू गाय थी जो बिना किसी चूंचपड़ के निरन्तर दूध दे सकती थी । वह दूध जो कीमती रक्त से तैयार होता है । सो, दोहन का हर प्रकार का प्रबंध अंग्रेज शासकों और देशी रजवाड़ों ने कर रखा था । यद्यपि मैथिलीशरण जी ऐसे परिवार से आये थे जो व्यवसायी था, ऋणदाता था और बिचौलिये के लाभ की कमाई खाता था, पर उस समय के सन्दर्भ में गुप्त जी की चेतना किसान के साथ थी, दीन और दुखियों के साथ थी ।

अंग्रेजों के आने से भारत में जो पूंजीवादी प्रगति हुई थी उसका सब से कम लाभ किसान को मिला था । वह किसान जो मेहनतकश तो था पर साधनहीन था । ऐसे साधनहीन किसानों की संख्या देश में बहुत ज्यादा थी । एक ओर मशीन ने बहुत से कर्मकारों का काम और शिल्प छीना था, दूसरी ओर वैज्ञानिक लाभों का अधिकाधिक लाभ भी केवल सम्पन्न किसानों को ही मिल पाया था । खेती के कार्य में लगा हुआ देश की पूरी आबादी का बहत्तर प्रतिशत किसान शोषण और अपमान का शिकार था । शासक विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा देने के लिए भांति-भांति के षड्यंत्र रचते रहते थे । किसान को चूसने वाले त्रिभुज के त्रिकोण की भुजाएं साम्राज्यवादी शासक, जमींदार और व्यापारी से बनी

थीं । मजदूरों और मेहनतकशों के शोषण के फलस्वरूप असमानता के धुएं से सभी परेशान थे । इतिहास साक्षी है कि उस समय कुल आठ हजार अंग्रेज अधिकारी एक सौ चालीस लाख पौंड वेतन पाकर भी असंतुष्ट थे, जबकि एक लाख तीस हजार हिन्दुस्तानी केवल तीस लाख पौंड वेतन पाने के लिए अभिशप्त थे । देश का बुद्धिजीवी इन तथ्यों से परिचित था । अपनी अनेक सीमाओं के भीतर ही मैथिलीशरण गुप्त ने समाज की इन स्थितियों से सही परिचय प्राप्त किया था ।

"भारत-भारती" की रचना के समय कवि अपनी काव्य-साधना के दस-ग्यारह वर्ष पार कर आया था । वह गांव ही नहीं, बल्कि चिरगांव का निवासी था । बहुत समीप से उसने देखा था अत्याचारों की चलती चक्की में पिसते असहायों को और उसने जाना था उन गरीब बच्चों को जिन्हें शिक्षा का प्रकाश मिलना असंभव था । बेवाई से फटे पैर और रूखे चेहरों को भी उसने देखा था । कवि ने केवल सहानुभूति प्रकट करके अपने कार्य का अंत नहीं समझा, बल्कि साधनहीन, गरीब, दलित और मनुष्य-कृत शोषण से सताये हुए किसानों पर उसने कारुणिक कविताएं भी लिखीं । "भारत-भारती" का वर्तमान खण्ड इस बात का पुष्ट प्रमाण है । उस समय दासता के दिनों में शोषित समाज की दुर्दशा का चित्रण साहित्य में करना देशद्रोह माना जाता था । शासन की तेज निगाहों का कोपभाजन रचनाकार को बनना पड़ता था । जब कभी कविता का अर्थ अधिकारियों की समझ में नहीं आता था, वह आम जनता तक पहुंचा दी जाती थी । कानपुर सेण्ट्रल जेल से रामप्रसाद बिस्मिल ने सरदार भगतसिंह के नाम एक ऐसी ही कविता लिख भेजी थी । उसे 'आशिक और माशूक का मजमून' समझ कर बाहर जाने की आज्ञा दे दी गयी थी । भारतेन्दु ने तो अपने समय में एक अलग सांकेतिक भाषा ही बना रखी थी जो आसानी से सभी की समझ में नहीं आती थी । उस समय भी अंग्रेज शासकों के दबदबे का बोझ बहुत अधिक था ।

गुप्त जी ने "भारत-भारती" के वर्तमान खण्ड में जन-जन की दुर्दशा का जो वर्णन किया है उसमें युवकोचित आक्रोश और करुणा के चित्र ही अधिक मिलते हैं । अतीत के वर्णन में जो लेखनी उल्लसित थी, वही वर्तमान का वर्णन करने में अश्रुपूरित होने लगती है । अनेक सांकेतिक सन्दर्भों के बावजूद, "भारत-भारती" को बिहार सरकार ने जब्त कर लिया था । सारे वर्णन हुकूमत के लिए स्पष्ट हो गये थे । उस समय की साम्राज्यवादी सरकार असलियत सुनने के लिए तैयार न थी । क्योंकि भारत-भारती की रचना सरल भाषा एवं सहज प्रवाही छन्दों में हुई थी, इसलिए वह आम जनता के लिए भी अधिक बोधगम्य थी । इतिहास के सामयिक साक्ष्य के आधार पर देश में सन् १८९१ से १९०१ तक कई करोड़ लोग भूख से मारे गये थे जबकि दुनिया के युद्धों में सौ वर्ष में केवल पचास लाख व्यक्तियों की जानें गयी थीं । गुप्त जी ने कहा कि

कीड़े-मकोड़ों से अधिक दयनीय स्थिति जनता और गरीब जनता की हो गयी है । एक ओर वह निर्धनता की चक्की में पिस रही है, दूसरी ओर अशिक्षा, पिछड़ापन और साधनहीनता की प्रेत-बाधा से भी वह दुःख भोग रही है । कवि की आत्मा की पुकार अपने दीनबंधु की ओर जाती है । आस्थावादी दृष्टि और परिष्करण की चेतना इस बात पर बल देती है कि 'भगवान' के पास कोई जादू की छड़ी है जिससे वह किसी परिस्थिति को विषम नहीं होने देगा । गुप्त जी मानते हैं कि देवता की देहली पर राजा के सोने के सिक्के और गरीब की कौड़ी दोनों समभाव से चढ़ायी जाती है । अपनी-अपनी श्रद्धा के अलग-अलग परिणाम सामने आते हैं । जो आर्त्त हैं, दुखी हैं, कठिनाई में पड़े हैं उन्हें शासन और भगवान की ओर से सुखदायी परिणाम कम ही मिल पाते हैं । मैथिलीशरण जी राजाओं और रईसों पर टिप्पणी तो करते हैं पर यदि 'राजा' अपनी 'प्रजा' की सुविधाओं का ध्यान भली प्रकार रखने लगे तो कदाचित उन्हें कोई आपत्ति न हो ।

अपने प्रारंभिक लेखन में इस बात को गुप्त जी ने बड़ी दृढ़ता के साथ उठाया था कि जिस समाज में अधिकांश जन कीड़े-मकोड़ों की भांति गुजर-बसर करें और गिने-चुने व्यक्ति मौज-मस्ती करें और गुलछर्रे उड़ायें, वह समाज अपनी इन विसंगतियों में ज्यादा दिनों तक नहीं टिक सकता । यह तथ्य सभी को पता है कि भारत की जनता यहां के नरेशों द्वारा लगातार सतायी जाती रही । गुप्त जी ने व्यवस्था के इस ढांचे पर जिस समय प्रहार किया था, उस समय किसी बुद्धिजीवी द्वारा सत्ता पर समीक्षात्मक टिप्पणी करना बहुत सरल कार्य नहीं था । जोखिम झेलते हुए गुप्त जी ने लोकमंगल की आवश्यकता को रेखांकित किया था । भोग-विलास में डूबे हुए जनाकांक्षाओं के विरोधी रईसों को उन्होंने धिक्कारा भी था । कविता में आलोचना की जितनी गुंजाइश होती है उससे आगे जाकर कवि ने अपने युग के यथार्थ का चित्रण किया है । जन-विरोधी और तत्कालीन सत्ता के सूतों और लिक्खाड़ों की ओर समाज का ध्यान आकर्षित करते हुए गुप्त जी समाज और देश के हित को सर्वोपरि मानते हैं । उन्हें इस महादेश की निरक्षर जनता में बुराइयां भी दीखती हैं । इनसे छुटकारा पाने के लिए स्वयं चेतना होगा, अपने चेते ही सर्वांगीण विकास संभव है—ऐसी उनकी मान्यता थी ।

जैसे-जैसे समय बीतता है, कवि की विचारधारा भी बदलती है । अंग्रेजों के प्रति कवि के मन में जो आक्रोश था, वह धीरे-धीरे तिरोहित होने लगा । थोड़े ही समय के बाद वे गोरों के साथ गंगा और यमुना के सम्मिलन का भाव व्यक्त करने लगे थे । जिस समता वाली सरस्वती की बात गुप्त जी कर रहे थे वह निश्चय ही रामराज्य की भांति यूटोपिया ही थी । यह स्वप्न-चित्र भी वास्तविक बनने वाला नहीं था । सात समंदर पार से आये गोरे भारत की माटी को अपना नहीं मान पाये । और फिर 'प्रभु'

के साथ 'प्रजा' के मेल-मिलाप में एक सीमा भी तो बनी रही। राजन्य संस्कृति के अन्तर्गत भी यह सीमा सदैव स्थापित थी, पर दोनों में एक बहुत बड़ा अन्तर था। भारत की राजन्य संस्कृति का उद्भव यहां की भूमि पर हुआ था इसलिए देश की जनता के लिए वह सुखदायी भले ही न रही हो, किन्तु अपरिचित नहीं थी। यथार्थ की पृष्ठभूमि और भारतीय समृद्ध अतीत की स्मृति को साथ लिये हुए मैथिलीशरण जी अपनी काव्य-रचना के प्रारंभिक काल से ही किसी न किसी रूप में आदर्शवादी बने रहे। प्राय: यह देखने में आता है कि आदर्श के वृत्त में खड़े होकर सामान्य जन के सम्बन्ध में, उनके पक्ष में बातें तो बहुत की जाती हैं, परन्तु जन-जन के यथार्थ की ओर से या तो आंखें बन्द कर ली जाती हैं या फिर रचनाकार कोई और पैंतरा बदल लेता है। गुप्त जी ने ऐसा नहीं किया।

उन्होंने अपनी रचनाओं में जहां-जहां समाज-सुधार, उपकार या पुनरुत्थान के विचारों के बिम्ब बनाये हैं, वहां उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण अडिग रहा है। यह रचना-यात्रा कई पड़ावों से होकर आगे बढ़ती है। कवि की अंतिम मंजिल राष्ट्रीयता है और यात्रा का प्रारंभ भी यहीं से हुआ था। उसने स्वयं स्वीकार किया है कि 'भारतवर्ष' ही कवि की कविता का विषय रहा है। यह नाम एक ऐसे महादेश का है जो अपने अन्तःस्तल में उत्थान-पतन, चढ़ाव-उतार, अमीरी-गरीबी समेटे हुए है। कवि की जन चेतना इसी राष्ट्रीय भावना के परिप्रेक्ष्य में ही देखी-परखी जा सकती है।

श्रृंगार का जो भव्य भवन संस्कृत के कवियों ने खड़ा किया था उसकी अत्याकर्षक दीप्ति की झलमलाहट पर हिन्दी के मध्यकालीन कवि भी लट्टू बन कर नाचे थे। स्वयं गुप्त जी के काव्य गुरु पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी पर भी उसका कम प्रभाव नहीं था। वर्ष के बारह महीनों में जन-जन की क्या दशा-दुर्दशा होती है—यह चित्र उतना वर्णनीय नहीं था, जितना कि किसी काल्पनिक विरहिणी का सांगोपांग वर्णन उनके लिए उपादेय था। गुप्त जी ने रचना के स्तर पर नया मार्ग अपनाया। ब्रजभाषा में तब तक उनकी अनेक रचनाएं आ चुकी थीं। 'षट्ऋतु-विहार' नामक अपनी प्रस्तावित रचना को 'दुर्दशा-निवेदन' नाम देकर गुप्त जी ने भारत की छः ऋतुओं में होने वाली गरीबों की दुर्दशा का वर्णन किया। भारतेन्दु की भांति भारतीय धन के विदेश जाने के लिए क्षोभ व्यक्त करने के साथ ही कवि ने समाज की दुर्दशा का वास्तविक चित्र खींचा है। रचनाकार की इस मनोदशा का पल्लवन तब दीखता है जब वह "भारत-भारती" के वर्तमान खण्ड में 'कृषि और कृषक' शीर्षक से अपने विचार व्यक्त करता है। किसान खून सुखाकर हल चलाता है। सूर्य का प्रखर ताप सहते हुए वह श्रम करता है। रूखी रोटियों पर पला शरीर भला कितना श्रम कर पायेगा! भरपेट भोजन उनके भाग्य में कम ही लिखा होता है। यही हाल किसान का वर्षा काल

में है। शीत भी उनके लिए मृत्यु का संदेश लेकर आती है। कृषक बंधुओं की श्रम साध्य जिन्दगी को कवि ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है।

युगीन सन्दर्भों को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस दिशा में कार्य करने वाले मैथिलीशरण जी अकेले कवि नहीं थे। 'आर्त कृषक' नामक रचना द्वारा सनेही जी ने जमींदार, जिलेदार और पटवारी के अत्याचारों का वर्णन किया है। गुप्त जी के छोटे भाई सियारामशरण गुप्त ने तो अपनी 'अनाथ' पुस्तिका में एक दीन-हीन व्यक्ति को ही नायक के रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसे ही उस काल के प्राय: सभी कवियों का ध्यान शोषित जन की ओर गया था। सामाजिक सन्दर्भों में शोषण एक बहुत बड़ी समस्या थी। शासक वर्ग का दृष्टिकोण सामान्य जन के पक्ष में नहीं था। आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाले नेताओं के सामने आम और गरीब जनता की समस्याएं थीं। एक अग्रणी कवि के रूप में मैथिलीशरण जी ने रचना का जो पथ सुझाया था, वह सामान्य जन को रूपायित करने के लिए सर्वकाम्य था। युगीन कवियों ने गुप्त जी के साथ-साथ ऐसा वातावरण रचा, जिसमें यह बात स्पष्ट हो गयी कि रचनाकारों का ध्यान उनकी ओर है, जो सताये जा रहे हैं, जिनके सामने कठिनाइयों और अत्याचारों का जाल बिछा हुआ है।

मैथिलीशरण जी ने कार्ल मार्क्स की पत्नी जेनी से सम्बन्धित "जयिनी" नामक एक काव्य रूपक लिखा था जिसमें पति-पत्नी के परस्पर वार्तालाप के माध्यम से कवि के विचारों से हम अवगत होते हैं। जेनी कहती है कि वह धनिकों को भावदान देगी और उसके पति कार्ल मार्क्स दीनों, शोषितों और दलितों को भाषा प्रदान करेंगे। जयिनी और मार्क्स के संवादों में गुप्त जी श्रमिक वर्ग की तकलीफों का वर्णन करते हैं। उनके कारणों पर प्रकाश डालते हैं। यह भी कहते हैं कि पूंजीपति अधिक हैं और कारखानों में काम करने वाले मजदूर पशु तुल्य हैं। जिनके जीवन के दीये बुझे-बुझे से दीख रहे हैं, उनसे हम यह आशा रखें कि वे सदैव दबाव वाली स्थितियों में काम करते जायें, संभव नहीं दीखता। समाज की कतिपय आवश्यकताओं की ओर, शोषण के क्रूरतम षड्यंत्र की ओर ध्यान देने वाले पति को पत्नी का सराहनीय सहयोग मिला है जिसके आधार पर चिंतन की इतनी बड़ी इमारत खड़ी हो सकी है। गुप्त जी सोचते हैं कि धन रूपी फल प्राप्त करने के लिए 'श्रम' को महत्व मिलना चाहिए। वह समय ऐसा था कि श्रम करने वालों को उनके श्रम का फल पूंजीपतियों के जूठन बराबर भी नहीं मिलता था। इन जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए गुप्त जी के पास दो मार्ग हैं। एक तो वे मानते हैं कि प्रभु-कृपा से सब ठीक हो जायेगा और दूसरे उनका विचार है कि धनिकों का हृदय-परिवर्तन हो जाय। कहीं कोई एक सन्तुलन स्थापित हो जाय जिसके आधार पर सभी सुखी रह सकें।

"साकेत" के राम के माध्यम से गुप्त जी अपनी समष्टिगत चेतना को व्यक्त करते हैं। लौकिक लीलाओं वाले राम भूतल पर स्वर्गिक सन्देश लेकर नहीं आये हैं। वे चाहते हैं कि यह वसुधा (केवल अपना देश ही नहीं) ही स्वर्ग बन जाय। यहां से संकट, दुःख और दैन्य सदा के लिए मिट जायें। जो सताये गये हैं, अभिशप्त हैं, जिनका मनोबल टूट चुका है, जिनकी मानसिकता पराश्रयी हो गयी है, उन्हें रामाश्रय में आगे बढ़ने का अवसर मिले। इतना ही नहीं जन के सामने धन की तुच्छता की बात बार-बार कवि ने दुहरायी है। ऋक्ष और वानरों की वे जातियां जिन्हें मनुज का स्तर अभी तक नहीं प्राप्त हो सका था, उन्हें राम के राज्य में यह प्राप्त हो जायेगा। सुख और शांति के लिए उनके राम क्रान्ति के लिए भी उद्धत होते हैं। इन सारी बातों के बावजूद गुप्त जी अपनी पारंपरिक शैली से अलग होते नहीं दीखते। अपने राम के लिए वह कहते हैं कि उन्होंने जीवन और समाज की सारी कटुता ले ली, उसके बदले जन-जन को जीवन का मधु प्रदान किया। राम तो प्रजा के रक्षक मात्र बने रहे। राज का असली आनंद तो प्रजा ने ही भोगा था। उस युग में जन-जन में जो उल्लास और आह्लाद था, वह गुप्त जी के अनुसार किसी भी युग में कदाचित ही हो।

मैं कहना चाहता हूं कि गुप्त जी के राम जनता के लिए आशीषों का प्रसाद बांटने वाले भगवान नहीं हैं। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व कर्म से निर्मित है। जिस समाज का नियंता स्वयं कर्मशील होगा, उसकी चेतना में सर्वत्र कर्म का ही प्रभाव दीख पड़ेगा। कवि की कल्पना के वृत्त में भगवान, राजा और जन-जन की कर्मशीलता ही समाज को उन्नति की ओर ले जायेगी। लोकमत की बातों को अनसुनी करने वाला राजा प्रजा का हितैषी नहीं हो सकता, चाहे वह राम ही क्यों न हो। जिन पौराणिक आख्यानों पर आधारित गुप्त जी ने अपनी छोटी-छोटी रचनाएं दी हैं उनमें भी उन्होंने सामान्य जन की पक्षधरता ही व्यक्त की है। कवि ने अपनी रचना-यात्रा को पूरा करते हुए अनेक कल्पना-प्रसंगों में 'लोक' को स्मरण किया है। उनकी भक्ति-भावना देश-प्रेम, आदर्श एवं सांस्कृतिक चेतना आदि लोकानुराग को और दृढ़ बनाते हैं। नारी मुक्ति सम्बन्धी उनकी रचनाएं जन-चेतना के अंग के रूप में ही जानी जाती हैं। युग-युग से कवियों द्वारा रचित श्रृंगार सहचरी नारी गुप्त जी की सोद्देश्य कविता में अपना उचित स्थान पा सकी है। कवि की रचनाएं प्रमाणित करती हैं कि आधुनिक युग में खड़ी बोली की कविता के माध्यम से मानवता का एक ऐसा रूप निखरा जिसे लोग कभी उत्तर मध्यकाल में भूल चुके थे।

नये युग की आवश्यकताओं के आधार पर ही गुप्त जी ने अपने काव्य-चरित्रों का सृजन किया है। युगीन चिन्तन की नयी लहर से वे भली-भांति परिचित थे। पौराणिक आख्यान काव्य में भी कवि ने आज के जन-जन की आशा और आकांक्षा को चित्रित करके साहित्य के मंच से

उसके पक्ष को उजागर किया है। जिन्हें अभी तक तिरस्कार मिला है, जो सदैव उपेक्षित रहे हैं उन्हें कवि नयी दृष्टि प्रदान करके युगीन प्रकाश में ला खड़ा करता है। पारिवारिक मर्यादा में रहते हुए जिस आदर्श समाज की कल्पना कवि ने की है उसमें शोषण के लिए स्थान नहीं है। पुरानी मान्यताओं में जहां कहीं उन्हें असंगति जान पड़ी है, दृढ़तापूर्वक उसका विरोध किया है। विष्णुप्रिया और विधृता आदि के प्रसंग इसी प्रकार के हैं। समय ने जिसके साथ अन्याय किया है, कवि की लेखनी ने उसे अपनाया है।

मैथिलीशरण गुप्त की गद्य-शैली

—रामशरण शर्मा 'मुंशी'

मैथिलीशरण गुप्त ने "जयद्रथ वध", "भारत-भारती" और "साकेत" आदि के लेखक होने के नाते, कवि के रूप में ख्याति अर्जित की। गद्य लेखक के रूप में लोग उन्हें कम ही जानते हैं। उन्होंने गद्य लिखा भी कम है, और जो लिखा है वह सम्भवत: कहीं एक जगह एकत्र नहीं है।

जिस लेखक ने उपन्यास न लिखा हो, कहानियां न लिखी हों, ले-देकर एक नाटक लिखा हो, उसके गद्य का अध्ययन उसके पत्रों, लेखों तथा संस्मरणों के आधार पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

सुप्रसिद्ध देशभक्त, पत्रकार और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जूझने वाले अथक सेनानी गणेश शंकर विद्यार्थी की शहादत के बाद "सुधा" के १९३१ के नवम्बर अंक में 'सरस्वती-आश्रम' के अपने इस सहयोगी का स्मरण करते हुए, जो इन्हीं की तरह महावीर प्रसाद द्विवेदी को अपना गुरु मानते थे, उन्होंने लिखा था :

"पूज्य द्विवेदी जी की सेवा में रह कर उन्होंने (गणेश शंकर विद्यार्थी ने—ले.) अपने गद्य का विकास किया था, और उन्हीं की (द्विवेदी जी की—ले.) कृपा से मैंने पद्य-रचना सीखी थी। . . .

"एक बार गणेश जी ने मुझसे कहा, 'तुम्हीं मजे में हो। मैं भी अब कविता लिखना आरम्भ करता हूं। गद्य लिखते-लिखते तो कलम घिस जाती है और मैं पिस जाता हूं। तुमने दस-पांच पंक्तियां लिखीं और छुट्टी पायी।' परन्तु यदि मेरे पद्य से वे अपने गद्य का बदला करते, तो नि:संदेह टोटे में वही रहते।"

("सुधा", नवम्बर १९३१)

जो भी हो, गुप्त जी ने जो गद्य लिखा वह—उन्हीं के शब्दों को दुहरायें तो—उनकी 'पद्य-रचना' की तुलना में मात्रा की दृष्टि से बहुत कम है। सम्भव है कि इसका कारण यह रहा हो कि गद्य लिखने की ओर उनकी प्रवृत्ति कम ही थी। अपनी छोटी-सी पुस्तिका "मुंशी अजमेरी" के प्रारम्भिक 'निवेदन' में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है :

"... मैं भी कुछ संस्मरण लिखना चाहता था किन्तु समर्थ न हो सका। बात यह है कि **गद्य लिखने से मैं सदा अलसाता रहा हूं।**" (जोर मेरा—ले.)

तो भी, मैथिलीशरण गुप्त ने गद्य लिखा है। और, उनके गद्य में विविधता है, उनका गद्य विश्लेषणात्मक भी है, व्यंग्यात्मक भी—और कहीं-कहीं तो उसमें अनूठा लालित्य है।

* * *

मैथिलीशरण गुप्त के गद्य का अध्ययन अपने आप में रोचक विषय

है। किशोरावस्था के आलंकारिक गद्य से क्रमश: उनका गद्य यथार्थ-परक और विश्लेषणात्मक गद्य की ओर बढ़ता है तथा आगे चल कर उनके संस्मरणों में ललित गद्य का रूप धारण करता है। १९०४ में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी को लिखे एक पत्र में, गुप्त जी के संस्कृत-गर्भित, अलंकरणयुक्त और सानुप्रास भरे प्रारम्भिक गद्य की बानगी देखिए :

"कार्तिक शुक्ल ३, संवत १९६१, श्रीमान पंडित जी महाराज, चरणारविन्दों में बहुश: प्रणाम। भवदीय चरण सत पत्र प्रसादात्रं कुशलं तत्रायध्स्यु, अग्रेवृत्तामिदं ईयम्। कृपासिंधु। करकंजांकित शिक्षापत्र २८-१०-१९०४ का प्राप्त हुआ। पत्र देने में कई कारणों से विलम्ब हुआ, क्षमा कीजियेगा। भगवन! इतना खेद मुझे अपनी कविता सरस्वती में न प्रकाशित होने का नहीं हुआ, जितना कि सरस्वती के पाठकों की ब्रजभाषा पर तुच्छता का। जो हो, अपनी-अपनी रुचि होती है, मुंडे-मुंडे रुचिर्भिन्ना।"[1]

गुप्त जी द्विवेदी जी को उलाहना दे रहे हैं कि 'सरस्वती' के पाठक ब्रजभाषा के महत्व को क्यों नहीं समझते। तो भी इसी पत्र में वह आगे लिखते हैं :

"महात्मन। नि:संदेह श्रीमान के चरणाम्बुजों में मेरी हार्दिक भक्ति है। सरस्वती से पूर्ण प्रेम है और खड़ी बोली में यथाशक्य कविता भी रच सकता हूं। परन्तु किया क्या जाय? खेद का विषय है कि इस दास को **स्वभाव से ही खड़ी बोली से कुछ अरुचि-सी है।** अरुचि है सही किन्तु 'यदादा चरित श्रेष्ठततदेवेतरो जन: सयत् प्रमाणं करुते लोकस्तदनुवर्तते' इस न्याय से जब श्रीमान जैसे विद्ववान पुरुषों को ही खड़ी बोली रुचिकर है, तब मुझ जैसे अशिक्षित, अल्पज्ञ, अविवेकी, अनभिज्ञ एवं अबोध बालक की गणना ही क्या? अस्तु, अवकाश पाने पर खड़ी बोली में कविता रचकर श्रीमान की सेवा में अर्पण करूंगा। . . ." (जोर मेरा-ले.)

स्वभाव से ही खड़ी बोली से अरुचि क्रमश: बदली, यह सभी जानते हैं। इस 'अरुचि' को सुरुचि में बदलने का श्रेय द्विवेदी जी को रहा है। लेकिन गुप्त जी की गद्य शैली एकदम नहीं बदली। एक वर्ष बाद खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि श्रीधर पाठक को २७ मार्च १९०५ को एक पत्र में लिखते हैं :

"श्रीमान पंडित जी महाराज। बहुश: प्रणाम! शमस्तु तत्रास्तु, अग्रेवृतमिदम्।

"महोदय!

"भवदीय प्रेषित एवं विरचित 'काश्मीर सुषमा' नामक एक अपूर्व पुस्तक प्राप्त हुई जिसके प्रत्येक पद्य से सरसता, माधुर्य्यता, लावण्यता एवं काव्य कुशलता टपकी ही पड़ती है।

---

१. सरस्वती का द्विवेदी-स्मृति अंक।

"कहां तक प्रशंसा करूं ? अकथनीय है ! अनिर्वचनीय है !! अलेख-नीय है !!! . . ." इत्यादि ।

द्विवेदी जी को लिखे पत्र में यदि 'अल्पज्ञ', 'अविवेकी', 'अनभिज्ञ' एवं 'अबोध' की बहार थी, तो पाठक जी को लिखे पत्र में 'अकथनीय' 'अनिर्वचनीय' और 'अलेखनीय' की बहार है । अस्तु ।

"सरस्वती" और पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी से गुप्त जी का सम्पर्क निरन्तर बढ़ता गया और द्विवेदी जी के 'सरस्वती' से अलग होने के समय तक घनिष्ठ से घनिष्ठतर होता गया । १९२१ में 'सरस्वती' का सम्पादन दूसरे के हाथ में पहुंचने पर गुप्त जी का 'सरस्वती' से सम्बंध शिथिल हो गया । और, यह स्वाभाविक भी था । "भारत-भारती" के लेखक पर 'सरस्वती' में ही परोक्ष रूप से आक्षेप कोई बहुत रुचिकर बात नहीं थी ।

द्विवेदी जी ने, निस्संदेह, बाबू मैथिलीशरण गुप्त से सब काम कराया । कभी-कभी तो पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी गुप्त जी को खूब आड़े हाथों भी लेते थे । गुप्त जी की एक कविता 'क्रोधाष्टक' ("पद्य प्रबन्ध", पृ. ८९, १९१२) जब 'सरस्वती' में छपने पहुंची, तो द्विवेदी जी ने गुप्त जी को लिखा :

"हम लोग सिद्ध कवि नहीं । बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं । आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते । कुछ भी लिख कर छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है । आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े समय में ही लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गये ।"

भाषा सरल हो—यह द्विवेदी जी का आदेश था ।

अपनी पुस्तक "जयद्रथ वध" गुप्त जी ने द्विवेदी जी को समर्पित की थी । "जयद्रथ वध" की चर्चा हुई । गया (बिहार) से लाला भगवान दीन 'लक्ष्मी' मासिक पत्रिका निकालते थे । उन्होंने "जयद्रथ वध" की आलोचना करने की ठानी । इसके प्रत्युत्तर में गुप्त जी ने जो लिखा वह उनके क्रमशः पुष्ट होते गद्य लेखन का परिचायक है । उसके कुछ अंश देखिए :

"शिक्षा तरंगों में बहो, आदि प्रयोगों में मुहाविरे की क्या बात है ? जो प्रयोग नई रीति पर हिन्दी में प्रयुक्त किये जायें और वे अशुद्ध न हों, तो क्या वे अनुपयुक्त कहे जा सकते हैं ? . . . जब 'दुःखोदधि में मग्न होना', 'सुखार्णव में समा जाना', 'सोच-सागर में डूब जाना' और 'प्रेमापगा में बहना' बामुहाविरा है, तब बेचारी 'शिक्षा तरंगों' ने क्या अपराध किया है ? . . ."

और आगे—

" 'भरने लगे सब सौनकों के हृदय हर्ष प्रवाह से' इस पर आपका कहना है कि 'प्रवाह से किसी वस्तु का भरना असंगत सा जंचता है ।'

पर मेरी समझ में कुछ भी असंगत नहीं । प्रवाह जिस स्थान पर आकर गिरेगा, वह स्थान उससे भरेगा नहीं, तो क्या रीत जायगा ? . . ."

अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोग के सम्बंध में लिखते हैं :

"ऐसे शब्द जो हिन्दी में अधिकता से व्यवहृत होते हैं, वही मेरी लेखनी से निकलते हैं । हमेशा, जरा, खूब, और जोर आदि ऐसे शब्द हैं जो हिन्दी शब्द ही हो गये हैं । उनका प्रयोग करना मैं बुरा नहीं समझता । इसके सिवा जो शब्द हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं, वे नहीं लिखता और न लिख ही सकता हूं । . . ."

बोलचाल की भाषा—खड़ी बोली—को साहित्य में प्रतिष्ठित करने का संघर्ष तेज हो चला था । स्वभावतः ब्रजभाषा के पक्षधर तिलमिला उठे थे । ३ फरवरी १९११ को गुप्त जी ने द्विवेदी जी को एक पत्र में लिखा :

"आज एक कार्ड सेवा में भेजता हूं । देखिए इसमें 'सतसईसंहार' पर नाराजगी दिखायी गयी है । मैंने अभी इसका उत्तर नहीं दिया । जी में आया तो कुछ लिख दूंगा । यह भी मुझे मालूम है कि बहुत लोग मुझ पर खार खाये बैठे हैं । यही गनीमत है कि अभी तक बैठे ही हैं । मारने नहीं दौड़े । . . ."

चर्चा यद्यपि कविता की है तो भी गुप्त जी का गद्य किस तरह बदल रहा है, यह देखने की बात है ।

इस तरह रीतिवादी कवियों के विरुद्ध, जो कविता के लिए केवल ब्रजभाषा को उपयुक्त मानते थे, संघर्ष दिनोंदिन तीव्र होता जा रहा था । इसी बीच मध्य प्रदेश के खंडवा नगर के श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' लिखित "काव्य प्रभाकर" पुस्तक समालोचनार्थ 'सरस्वती' में पहुंची । द्विवेदी जी ने इस पुस्तक की समालोचना का दायित्व गुप्त जी को सौंपा । गुप्त जी ने इसकी लम्बी आलोचना लिखी । यह 'सरस्वती' के १९१२ की संख्या ४ और ५ में क्रमशः प्रकाशित हुई । गुप्त जी के गद्य की धार में अब पैनापन बढ़ चला था । उसका एक अंश देखिए :

"भानु जी उदाहरणों के विषय में लिखते हैं—'जहां तक बना अश्लील उदाहरणों का बहुत कुछ बचाव किया गया है । यदि इतने पर भी कहीं भूल हो गयी हो, तो आशा है कि उदार पाठक क्षमा करेंगे ।' यह लिखना आपकी शालीनता है, पर, खेद है, 'काव्य प्रभाकर' के अनेक स्थलों में बेहद शृंगारिक पद आ गये हैं । उनमें से कोई-कोई अश्लील भी हैं ।

"इस मयूख के अन्त में आपने एक नया काम किया है । वह यह कि आपने दादरों में समस्त नायिका भेद वर्णन किया है । और इस काम की आलोचना भी आपने स्वयं कर दी है । आप लिखते हैं—'बात पुरानी होने पर भी आप लोगों के सम्मुख बिलकुल नवीन रीति से उपस्थित की जाती है । उसे पढ़ कर आप देखें कि रेत में सोना निकाला गया है अर्थात मृत्तिका में से मणि का अन्वेषण किया गया है । . . ."

इसके कुछ उदाहरण हैं :

गोरा गाल तिल काला मुनैया ने क्या जादू डाला—नायिका
सवतिया काहे को जरी जाय—प्रेमगर्विता
कुआ पानी न जँहों नजर लागैं,
बलम कजरौटी लैयो रे ये नैना बिगरे जायं—रूपगर्विता
आली री बरतोर भयो हैं—अज्ञात यौवना

"बस अब और नहीं । पाठक इतने से ही इस रेत में से निकाले गये सोने की उत्तमता की जांच कर लें । यदि दादरों में नायिका भेद का वर्णन किया जा सकता है, तो क्या फाग में नहीं ? . . ."

यह तो हुई रीति काव्य की विकृति पर सधी हुई चोट । असली मुद्दा इसी लम्बी समालोचना में गुप्त जी आगे उठाते हैं । मुद्दा है कविता की भाषा का । उद्धरण थोड़ा लम्बा होने पर भी, उसे न देने का लोभ संवरण करना कठिन है, क्योंकि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी कविता को जिस आधार पर आगे ले चलना चाहते हैं और भविष्य में हिन्दी को जिस स्थान पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, उसके बारे में आप यहां कुछ महत्वपूर्ण प्रस्थापनाएं करते हैं । संदर्भ है कविता की भाषा का :

" 'हिन्दी कविता की भाषा' शीर्षक निबन्ध में, जो स्वर्गीय बाबू राधाकृष्ण दास जी के एक लेख के आधार पर लिखा गया है, भानु जी ने लिखा है कि 'खड़ी बोली की कविता के प्रेमियों को चाहिए कि वे प्रथम सर्वगुण-आगरी परम नागरी रसीली बृजभाषा की कविता में अच्छी योग्यता प्राप्त कर लें, पश्चात खड़ी बोली की कविता में हाथ डालें । बृजभाषा के ग्रंथ देखें तथा उनमें अनुभव प्राप्त किये बिना खड़ी बोली की कविता में माधुर्य आना असम्भव है ।' "

इस पर गुप्त जी टिप्पणी करते हैं :

"और यदि संभव हो, तो भानु जी की यही बात और बढ़ाकर इस तरह कही जा सकती है कि जो लोग अंग्रेजी में कविता करना चाहें वे पहले लैटिन में योग्यता प्राप्त कर लें । . . . यद्यपि किसी भी विषय का ज्ञान निरर्थक नहीं, पर यह बात युक्तिसिद्ध नहीं है कि बिना बृजभाषा की कविता सीखे बोलचाल की भाषा में माधुर्य आना असम्भव है । कविता के लिए भाव प्रधान हैं, भाषा गौण . . . मेरी अल्प बुद्धि तो यह कहती है कि अब खड़ी बोली में ही कविता होना सर्वथा इष्ट है । जिस हिन्दी को हम लोग राष्ट्रभाषा बनाने की कोशिश करें, उसी का साहित्य कविता से खाली पड़ा रहे, यह कैसे दुःख की बात है । कविता साहित्य का प्राण है । जिस भाषा में कविता नहीं, वह कभी साहित्यवती होने का गर्व नहीं कर सकती । और, जिस भाषा को साहित्य का गर्व नहीं, वह राष्ट्रभाषा क्या खाक हो सकती है ? . . ."

आगे वह अपनी बात और भी स्पष्ट करते हैं :

"वे दिन नजदीक आ रहे हैं जब कविता की भाषा का मुख्य आसन बोलचाल की भाषा ही को प्राप्त होगा और हमारी हिन्दी—वह हिन्दी

जिसमें सब तरह की किताबें लिखी जाती हैं और जो राष्ट्रभाषा होने का पूरा दावा रखती है—गद्य और पद्य, दोनों में समानता को प्राप्त होकर पूर्ण रूप से अपने अधिकार को प्राप्त होगी . . . ।"

बोलचाल की भाषा में, खड़ी बोली में, हिन्दी में, कविता के महत्व का जो प्रतिपादन गुप्त जी अपने गद्य द्वारा कर रहे थे, उसे उन्होंने मूर्त रूप दिया "भारत-भारती" में । "भारत-भारती" के सम्बन्ध में महावीर प्रसाद द्विवेदी के अविस्मरणीय शब्द हैं—"यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करेगा ।"

"भारत-भारती" १९१४ के अगस्त माह में छप कर आयी और दो महीने के भीतर उसकी १२०० प्रतियां बिक गयीं ।

स्वभावतः "भारत-भारती" पर भी तत्कालीन रस-रीतिवादियों ने चोट की । १९१५ के फरवरी माह की 'मर्यादा' के २७ कालमों में 'उद्भट जी' के नाम से इसकी आलोचना की गयी । पर इस आलोचना का समुचित प्रत्युत्तर दिया पं० रूपनारायण पाण्डे ने तथा अन्य विविध पत्र-पत्रिकाओं ने । स्वयं गुप्त जी को उलझने की जरूरत नहीं पड़ी । एक पत्रिका ने तो अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में लिखा : " 'मर्यादा' में जो समालोचना निकली है, वह एक निरंकुश निष्कर्मा भ्रष्टाचार्य की है ।"

* * *

मैथिलीशरण गुप्त के गद्य लेखन की चर्चा करते समय उस लेख का स्मरण न हो आना असम्भव है जो उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ अधिवेशन के लिए लिखा था । इस अधिवेशन में वह स्वयं नहीं उपस्थित हो सके (द्विवेदी जी भी उसमें नहीं थे), किन्तु भाषा के विकास, लेखक के दायित्व, कविता में प्रसाद गुण, अतुकांत कविता के समर्थन आदि विषय की दृष्टि से यह लेख बहुत महत्वपूर्ण है । साथ ही, यह उनके गद्य लेखन में यथेष्ट प्रौढ़ता का भी परिचायक है । यह लेख है : 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो ?' भाषा के विकास की चर्चा करते हुए वह कहते हैं :

" . . . हमारी भाषा की बहुत कुछ उन्नति हुई । क्रमशः परिष्कृत होती हुई वह बृजभाषा के रूप में आयी । समर्थ कवियों के हाथों में पड़ कर परिष्कृत और अलंकृत हुई और इतनी कर्ण मधुर बन गयी कि आज भी हम में से बहुत लोग उसी में कविता करने का आग्रह करते हैं ।"

भाषा की इस उन्नति को 'आश्चर्यमयी' मानते हुए भी गुप्त जी "उसी में कविता करने का आग्रह" अब उचित नहीं समझते । इसका कारण भी वह साफ-साफ बताते हैं । लिखते हैं :

"भाषा की उन्नति निस्संदेह आश्चर्यमयी है । परन्तु फिर भी अधिकांश में वह आदर्शरहित है । पीछे से उसमें कृत्रिमता आ गयी । नूपुरों का रव ही उसमें अधिक सुन पड़ता है; और तरह की ध्वनियां कम सुनायी देती हैं । . . . शब्द सम्बंधिनी विभूति उसमें अवश्य है, पर उच्च भावों की सहानुभूति विरल है । लोकानुभूति तो और भी विरल है । फिर कहिए,

कोरी विभूति को लेकर क्या करें ? आप बड़े सम्पत्तिशाली हैं, परन्तु जन-साधारण के साथ आपके हृदय में सहानुभूति नहीं तो उस सम्पत्ति से उन्हें क्या लाभ ? इसी कारण से हमारी कविता का सम्बंध सर्व-साधारण के साथ न रह सका।"

इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए वह कवियों के दायित्व की ओर संकेत करते हैं :

"मान लीजिए कि घोर दुर्भिक्ष है। लोग भूखों मर रहे हैं। हरदम लुटेरों का भय है। पल-पल कठिनता से बीत रहा है। लोगों को जीवन की आशंका है। ऐसी दशा में हमने गाने-बजाने की ठानी। गाना अच्छी चीज है और सबके लिए है, पर ऐसे समय में सर्वसाधारण से उसका क्या सम्बंध होगा ? उसका स्वर कितना ही लय-विशिष्ट क्यों न हो, पर वह समयोचित नहीं कहा जा सकता। वह उलटा विरक्तिकर होगा।"

यथार्थपरक गद्य। बोलचाल की भाषा। अग्रदर्शी विचार। लगता है, हमारे आपके बीच का ही आदमी हमारी और आपकी बात कह रहा है—खड़ी बोली में, खरी बात कह रहा है।

इसी लेख के अन्तिम अंश में वह भाषा की सरलता और प्रसाद गुण के महत्व को रेखांकित करते हुए उद्घोषणा करते हैं :

"हमारे काव्यों की भाषा यथासम्भव सरल रहनी चाहिए। प्रसाद गुण के बिना सारे गुण दबे रहते हैं। राष्ट्रीयता और व्यापकता के लिहाज से बोलचाल की भाषा में कविता लिखना विशेष उपयोगी है। खुशी की बात है कि इसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है और इसके विरोधियों की संख्या घट रही है। जो लोग 'खड़ी बोली' को कविता के योग्य नहीं समझते और पुरानी भाषा में ही—जिसे खड़ी बोली वाले चाहें तो पड़ी बोली कह सकते हैं—कविता किये जाने का आग्रह करते हैं, वे सच पूछिये तो हमारी राष्ट्रभाषा के जानी दुश्मन हैं। वे उस पर व्यर्थ दोषारोपण करके उसकी योग्यता में बट्टा लगाने की चेष्टा करते हैं।"

गुप्त जी का गद्य यहां पूर्ण सौष्ठव प्राप्त करता है।

गुप्त जी का ललित गद्य, मुख्यतः उनके संस्मरणों में उभर कर आया है। ये संस्मरण उन्होंने बाबू राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहर लाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, प्रसाद जी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मुंशी अजमेरी और शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी आदि पर लिखे हैं।

'सरस्वती' के द्विवेदी-स्मृति अंक में द्विवेदी जी से प्रथम परिचय का गुप्त जी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। गुप्त जी अपने अग्रज के साथ द्विवेदी जी से मिलने गये थे। द्विवेदी जी अभी घर नहीं आये थे। ये लोग प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी सामने से द्विवेदी जी आते दिखायी दिये :

"हम लोग संभ्रम उठ खड़े हुए। जाड़े के दिन थे। वे हल्के कत्थई रंग का नीचा ऊनी कोट या अचकन पहने हुए थे और ऊनी

ही सफेद फलालेन का पतलून जैसा पाजामा। बायें हाथ में कुछ कागज-पत्र लिये थे, दायें में छड़ी। दफ्तर से लौटने वालों के विपरीत अनातुर धीर गति से पैदल आ रहे थे। ऐसे मानो अभी सवारी से उतरे हों। आफिस दूर न था और पैदल आने-जाने से वे छोटे नहीं होते थे, **क्योंकि स्वभावतः बड़े थे।** झूठे सम्मान के पीछे वे टहलने के सुयोग से वंचित क्यों होते, जब सच्चा सम्मान उन्हें सुलभ था। ऊंचे ललाट के नीचे घनी और मोटी भौंहें उसके अनुरूप ही थीं। उनकी छाया में विशेष चमकती हुई आंखें, बड़ी न होने पर भी, तेज से भरी दिखायी देती थीं। पंडित जी वेश-भूषा से सुसंस्कृत, आकृति से गौरवशाली और प्रकृति से गम्भीर तथा चिन्तनशील जान पड़ते थे। हम लोगों का प्रणाम स्वीकार कर और हम लोगों पर एक दृष्टि डाल कर वे कमरे के भीतर जा कर ही रुके।"

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का चित्र साकार हो उठता है। 'सुधा' में गणेश शंकर विद्यार्थी पर अपने संस्मरण में वह लिखते हैं : "मुझे ऐसे-ऐसे देशोद्धारकों के दर्शन हुए हैं, जो साधारण जनों को अपने पास बिठाने में भी अपनी मानहानि समझते थे, परन्तु गणेश जी उनमें न थे। वे जानते थे कि जनता में अनेक अवगुण हैं, परन्तु यदि हम उसे उठाना चाहते हैं, तो हमें उसके बीच जाकर बैठना ही पड़ेगा। . . . मेरे परिचारक जगना से भी वे जगन मातें कह कर दो-चार आपसदारी की बातें किया करते थे।"

गणेश जी का रेखाचित्र, वह भी एक ही वाक्य में, देखिए :

"सिर पर अस्त-व्यस्त और रूखे-रूखे बाल, धूप में लाल-लाल मुख और पसीने-पसीने शरीर लिये हुए, क्लान्त गति से, मैंने उन्हें प्रताप प्रेस में प्रवेश करते हुए देखा है।"

* * *

अन्त में मैथिलीशरण गुप्त के उस भाषण का उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा जो उन्होंने १९४५ में मैथिलीशरण हीरक जयंती के अवसर पर अनेकानेक अभिनन्दन-पत्रों का उत्तर देते हुए दिया था। इस भाषण में उन्होंने कहा था :

"पराधीनों के लिए राष्ट्रीयता अनिवार्य सी है, परन्तु परिणति उसकी अन्तर्राष्ट्रीयता में है। मुझे विश्वास है, हिन्दी ने जैसे राष्ट्रीयता के प्रचार में योग दिया है वैसे ही हमारे स्वाधीन और समर्थ होने पर वह अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा विश्व बंधुत्व की भावना फैलाने में भी प्रमुख भाग लेने से न चूकेगी।"

इसी भाषण में उन्होंने एक और उल्लेखनीय बात कही, जिसका स्मरण अत्यंत समीचीन है। उन्होंने कहा :

"बहुत दिन पहले, मैंने साम्यवाद पर कुछ पद्य लिखे थे, तब तक मैंने कोई कविता उस विषय पर हिन्दी में नहीं देखी थी। . . .

"जयिनी और मार्क्स पर भी मैंने संवाद के रूप में एक पद्य-प्रबन्ध

आरम्भ किया था, पर सामग्री न पा सकने के कारण एक अंश ही मैं लिख सका। भले ही न लिख सका, परन्तु यह तो मैं आज भी मानता हूं कि कम्युनिज्म के समान ही हमारे कम्युनिस्ट कामरेड अच्छे हों।" (जोर मेरा—ले.)

इसी भाषण में आगे वह गद्य न लिख सकने के लिए एक बार फिर क्षमा-सी मांगते हुए कहते हैं :

"पद्य में थोड़ा लिख कर भी मेरा नाम चलता रहा। इसलिए गद्य की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं रही . . . .।"

गद्य लिखने की ओर प्रवृत्ति न होने की गुप्त जी की दुहाई के बावजूद यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि गुप्त जी ने गद्य यद्यपि कम लिखा है, तथापि एक अच्छे गद्य लेखक के सभी गुण उनमें विद्यमान थे—इस ओर वह प्रवृत्त होते, तब तो कहना ही क्या था! हां, उनकी गद्य रचनाओं के एक अच्छे संकलन का अभाव अब किसी तरह उचित नहीं ठहराया जा सकता। इस अभाव को शीघ्र ही दूर किया जाना चाहिए।

नई भाषा में सामाजिकता का पहला स्वर : गुप्त जी

—गिरिजा कुमार माथुर

आधुनिक हिन्दी कविता का इतिहास वस्तुतः उस नई काव्य भाषा की स्थापना, प्रतिष्ठा, विकास और परिष्कार का इतिहास है जिसे प्रारम्भ में खड़ी बोली कहा गया था। आज वही आधुनिक साहित्य, विचार, दर्शन, चिन्तन की सर्वांगीण भाषा है। वास्तविक जीवन की कठोर सच्चाइयों से सीधे उठाई गई दैनिक व्यवहार की खड़ी बोली जैसी "बाजारू" भाषा को साहित्य की गरिमामय उच्च पीठिका पर आसीन करना कितना कठिन काम था, यह इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। ४०० साल से चली आ रही ब्रजभाषा जैसी समृद्ध भाषा को सहसा हटा कर एक रूखी-सूखी भाषा को कविता के लिए अपना लेना किसी क्रान्ति से कम नहीं था। हमारे देश को गोचरी, सामन्ती जिन्दगी से आधुनिक यथार्थ की दुनिया में लाने में खड़ी बोली का कितना बड़ा योगदान है यह एक बहुत बड़ी सच्चाई है। इतिहास के जिस संक्रमण बिन्दु पर यह कार्य सम्पन्न हुआ वह पुराने और नये युग का सन्धि स्थल था। १९वीं सदी अपने सामन्ती मूल्यों के साथ समाप्त हो रही थी और आने वाली २०वीं सदी की आधुनिकता के धक्के तेजी से लग रहे थे। स्वाधीनता, सांस्कृतिक मुक्ति, अपनी महान परम्परा की गरिमा का बोध, आदमी के राजनीतिक, सामाजिक स्थिति की चेतना, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के आततायी, कुत्सित चेहरे की पहचान, क्रांतिकारिता, संगठित हस्तक्षेप द्वारा परिवर्तन और स्वतंत्रता प्राप्ति, वैज्ञानिक चेतना, भाग्यवाद की टूटती प्रक्रिया, कुरीतियों का विरोध, आदमी की गरिमा और नैसर्गिक आदि का इन नये मूल्यों के साथ नया युग उदित हो रहा था। मैथिलीशरण गुप्त उसी संधि स्थल पर हिन्दी कविता में आये। इस परिवर्धन की धड़कनों का अहसास उन्हें था। उन्होंने संवेदना के जिस धरातल पर परिवर्तन को आत्मसात किया और वाणी दी उसने हिन्दी कविता में एक नये अध्याय का सूत्रपात कर दिया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सवा सौ साल के इतिहास में तीन ही ऐसे शीर्षस्थ नाम सामने आते हैं जिन्होंने हमारे साहित्य में नये युग का सूत्रपात किया : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्द। गुप्त जी आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी कविता के सर्वमान्य निर्माता हैं।

उन्हें यह कीर्ति अपने जीवन-काल में ही प्राप्त हो गयी थी, जब महात्मा गांधी ने उन्हें 'राष्ट्रकवि' के नाम से संबोधित करते हुए कहा था कि "मैं तो गुप्त जी को इसलिए बड़ा मानता हूं कि वे हम लोगों के कवि हैं और

राष्ट्रभर की आवश्यकता को समझकर लिखने की कोशिश कर रहे हैं।'' सन् १९३६ में गुप्त जी की पचासवीं स्वर्ण जयंती समारोह हुआ था। तब तक काव्य-क्षितिज पर छायावाद, राष्ट्रीय धारा और छायावादोत्तर भावुक रोमानी प्रीत-धारा की तीन-तीन पीढ़ियां हिन्दी में स्थापित हो चुकी थीं। यथार्थवादी प्रवृत्ति साहित्य में आने लगी थी। पहला प्रगतिशील लेखक सम्मेलन भी उसी वर्ष अप्रैल १९३६ में हो चुका था। मार्क्सवाद ने इतिहास का परिपूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण किया था और मनुष्य की सामाजिक मुक्ति के लिए परिवर्तन की नई दृष्टि प्रदान की थी। लेखकों को वास्तविक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए एक नया प्रकाश मिला था। समाजवाद मानवीय व्यवस्था की नूतन दिशा थी। इस विचारधारा के प्रभाव से कवि-लेखक जिन्दगी की क्रूर वास्तविकता की ओर मुड़ रहे थे। उपनिवेशीय दासता, दुःख, अभाव, अन्याय, विपन्नता, शोषण और आजादी के दमन के विश्वव्यापी संदर्भ की स्पष्ट पहचान सामने आ गयी थी। प्रेमचन्द की रचनाओं में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति मानवीय संताप की गहरी संवेदना के साथ हो रही थी। सुमित्रानन्दन पंत, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा की रचनाओं में भी इस वास्तविकता की झलक मिलने लगी थी। इस परिदृश्य को लक्षित कर जब गुप्त जी ने यह पंक्ति लिखी कि ''जो पीछे आ रहे उन्हीं का मैं आगे का जय-जयकार'' तो वह एक यशस्वी कवि की गर्वोक्ति ही नहीं थी बल्कि साहित्य के इतिहास की बहुत बड़ी असलियत थी। जिस पीठिका पर छायावाद से लेकर प्रगतिवादी धाराएं उठीं उसकी रचना गुप्त जी ने की थी। गुप्त जी ने भाषा, संवेदना और कथ्य की ऐसी दिशा उद्घाटित की जो बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक कोई भी कवि नहीं कर पाया था। उन्होंने कविता को समकालीनता से जोड़ कर उसे सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ की ओर मोड़ दिया। कविता को कमनीय-कल्पना, हास-विलास, वाग्वैदग्ध, शब्दों की चमत्कारिक आवृत्तियों से काटकर जीवन के ठोस धरातल पर वह उतार लाये। इस प्रकार कवि-कर्म को उन्होंने बड़े सामाजिक आशय के साथ संबद्ध कर दिया। गुप्त जी ने कविता के लिए खड़ी बोली जैसी दैनिक व्यवहार की भाषा को चुना और उसे इतनी ऊर्जा, प्रवाह, मुहावरे की सहजता, अच्युत अर्थवत्ता, विचार और वर्णन की शक्ति प्रदान की जिसमें बदली हुई वास्तविकता को नये संवेग के साथ व्यक्त करना भविष्य में संभव हो सका। कविता को रीतिकालीन परिपाटीबद्धता, सांसारिक दुःखों के निवारण के लिए करुणानिधि के प्रति आर्तविलाप 'कहो, करुणानिधि केशव सो!' और विलासी सामंती अभिजात्य से निकालकर गुप्त जी उसे जनता के निकट ले आये। तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो बीच की छायावादी कल्पनाशीलता, दार्शनिकता और दूरस्थ वायवी अमूर्तन के बाद वही

सूत्र फिर प्रगतिशील धारा ने पकड़ा था। यों, छायावाद में कविता जिस परिष्कृत स्तर पर पहुंची थी वह अलग मूल्यांकन की बात है। लेकिन उस समय कविता को जनमानस तक लाना और बाह्य वास्तविकता से परिचित कराना कितना कठिन काम था इसका पूरा अंदाजा हम इस समय की इतनी दूरी पर बैठकर नहीं लगा सकते। इतिहास के एक घटित हुए तथ्य की तरह उसके महत्व का आकलन तो कर सकते हैं लेकिन कवि-व्यक्ति के रूप में साहस के साथ जिस जोखिम को गुप्तजी ने उठाया था उसका हम थोड़ा-बहुत अनुमान ही आज लगा सकते हैं। ये जोखिम गुप्त जी ने दुहरे-तिहरे स्तरों पर उठाये थे। उन्हें उसी शिद्दत के साथ जानने के लिए हमें उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में लौटना होगा जब मैथिलीशरण जी प्रबुद्ध होकर रचना-कर्म के लिए अग्रसर हुए थे।

पहली चुनौती भाषा की थी जो उनके सामने आयी। गद्य की समर्थ भाषा के रूप में खड़ी बोली भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों का इसमें रचनात्मक योगदान तो था ही, उस समय की पत्रकारिता ने भी खड़ी बोली को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। किन्तु कविता के लिए उसे उपयुक्त नहीं माना गया था। ब्रजभाषा के लोच और लालित्य के सामने खड़ी बोली का ठोस, बलिष्ठ और तब तक काफी रूखा, मार्दव-रहित स्वरूप तथा क्रिया-पदों का 'खड़ापन' तत्कालीन कवियों को सुरुचि के अनुकूल नहीं लगता था। ब्रजभाषा में धर्म, अध्यात्म, दर्शन, भक्ति, भावना, पौराणिकता, प्रकृति, प्रेम, मिलन, वियोग, शृंगार, रस और अलंकार की काव्य-शास्त्रीय अनुकूलता थी। खड़ी बोली इस सारी परम्परा से रहित थी। इसी कारण १९वीं सदी के अंतिम तीन दशकों तक यानी १८७० से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक साहित्यिक मंच पर दो समानान्तर भाषाएं चलती रहीं—गद्य के लिए खड़ी बोली और कविता के लिए ब्रजभाषा। तत्कालीन लेखकों की मानसिकता इन्हीं दो विलग ध्रुवों के बीच टकरा रही थी। एक ओर ब्रजभाषा की प्राचीन, गोचरी, स्निग्ध, अलसित-क्रोड थी जहां उनका मन पलायन करता था, दूसरी तरफ यथार्थ की कड़वी सच्चाइयां थीं, जीवन काव्य था, संघर्ष था—जिसे झेलने के लिए खड़ी बोली जैसी मर्दानी भाषा तैयार थी। कविता के क्षेत्र में तब तक ब्रजभाषा के कविता, सवैये, समस्या-पूर्ति, अलंकार, अनुप्रासों के शाब्दिक चमत्कार छाये हुए थे। रीतिकालीन सामंती परिपाटी का बोलबाला था। कवि-सम्मेलनों के मंच पर तब तक ब्रजभाषा ही विराजमान थी। वर्तमान उत्तर प्रदेश के सुदूर दक्षिण में बुंदेलखंड का बीहड़ जनपद है जिसके ग्राम-परिवेश में झांसी के निकट स्थित चिरगांव में गुप्त जी का जन्म हुआ था।

३ अगस्त १८८६ : श्रावण शुक्ला तृतीया—हरियाली तीज। बरसाती रिम-झिम से भरा त्यौहार का वह दिन था। ग्रामीण वातावरण, धूल-धक्कड़ भरे कच्चे गलियारे, गांव का छोटा-सा टिमटिमाता बाजार, प्राइमरी स्कूल, सदियों पुराने रीति-रिवाज, रूढ़ियां, पूजा-पाठ, कंठी-माला, श्रद्धा-आस्था, अंध-विश्वास। इस सारे धुंधलके के बीच घर में विद्या, साहित्य, कविता का आलोक था। कवि के पिता स्वयं ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। शीघ्र ही मैथिलीशरण जी भी 'रसिकेन्द्र' उपनाम से ब्रजभाषा की कविता लिखने लगे थे। काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना १८९२ में हो चुकी थी और सन् १९०० से 'सरस्वती' जैसी पहली और अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हो चुका था। सन् १९०३ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक बने और खड़ी बोली की रचनाओं को प्रेरित और प्रोत्साहित करके उसे तेज गति उन्होंने दी। गुप्त जी ने अपनी ब्रजभाषा की एक कविता १९०४ में 'सरस्वती' में प्रकाशन के लिए भेजी। किन्तु द्विवेदी जी ने उसे यह लिखकर वापिस कर दिया कि 'सरस्वती' में पुरानी भाषा की कविता नहीं छापी जाती, बोलचाल की भाषा यानी खड़ी बोली की कविताएं ही प्रकाशित की जाती हैं। गुप्त जी की चेतना पर इस पत्र का चमत्कारी प्रभाव पड़ा। जैसे किसी जादुई स्पर्श ने कवि की आंखों के सामने पड़ा एक धुंध भरा पर्दा हटा दिया हो और नये उजियाले में उसे ला खड़ा किया हो। उनकी प्रतिभा की जो धार रूढ़ियों से अवरुद्ध थी, इस पत्र के संघात से सहसा जैसे वह चट्टानें हट गयीं और गुप्त जी की रचनात्मकता पूरे वेग के साथ नयी दिशा में बह निकली। उन्होंने अपना काव्य-माध्यम बदल डाला और खड़ी बोली जैसी अपरीक्षित भाषा को चुन लिया।

आज जिस काव्य भाषा का इतना व्यापक, समृद्ध और परिष्कृत स्वरूप हम देख रहे हैं, जो हर प्रकार के आधुनिकतम कथ्य को समेटने में सक्षम है वह सम्भव ही नहीं होती यदि गुप्त जी ने उसकी ऐसी पक्की जमीन तैयार न की होती। वह इतिहास हमें फिर से स्मरण कर लेना जरूरी है। चार साल की छोटी अवधि में ही गुप्त जी ने इस नयी काव्य-भाषा को इतना मांज कर सिद्ध कर लिया कि १९०९ में उनके लिखे दो सफल काव्य-ग्रंथ सामने आ गये। ''रंग में भंग'' और ''जयद्रथ-वध'' दोनों ही काव्यों में बलिदान की कथाएं हैं। 'जयद्रथ-वध' आज भी खड़ी बोली का पहला और सर्वथा समर्थ खंड-काव्य है। उसकी सहज प्रवाहमयी भाषा की हर पंक्ति चमकते निर्मल जल की तरह अबाध गति से बहती लगती है। फिर तीन वर्ष बाद ही गुप्त जी की ''भारत-भारती'' कृति ने सारे देश में तहलका मचा दिया। समकालीन सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकता को इतनी खुली अभिव्यक्ति उन्होंने दी और विदेशी सत्ता तथा साम्राज्य-

वादी अन्याय पर जो सीधा प्रहार किया उसी के कारण वह हरेक का कंठ-हार बनी। यह सिर्फ भाषा का ही परिवर्तन नहीं था बल्कि दृष्टिकोण और मूल्यों का परिवर्तन भी था। परिवर्तित चेतना के इस दबाव के बिना रूपाकार का परिवर्तन नहीं होता। लेकिन नये कथ्य का पहला स्पष्ट प्रमाण रूपाकार के नयेपन से ही मिलता है। बदलता यथार्थ नये परिधान पहन कर ही सामने आता है। इस मिश्रित द्वंद्वात्मक स्थिति से आंखें बन्द करके कई संकीर्ण दृष्टि वाले आलोचक उसे कलावाद या रूपवाद कहने लगते हैं जैसी हठधर्मी सन् १९४० के बाद की प्रयोगधर्मी प्रगतिशीलता के साथ बरती गयी। बदलते यथार्थ की कुछ वैसी ही स्थिति गुप्त जी के समक्ष १९०५ में थी। विदेशी शासन का विरोध, स्वदेश प्रेम, अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा की पहचान, जातीय अस्मिता का गौरव, स्वाधीनता प्राप्ति के क्रमशः तेज होते आंदोलन, कुरीतियों का व्यापक खंडन, नये आविष्कारों की भूमिका, विज्ञान, दर्शन, विचार, संस्थागत विकास, लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए संघर्ष—ये सभी नये मूल्य थे। इस बदले परिप्रेक्ष्य के कारण ही विदेशी शोषण द्वारा अपनी दारुण दुर्दशा, गरीबी, रोग, भुखमरी, महामारी, उद्योगों का अभाव, विदेशी पूंजीपतियों के कारखानों में बने माल का देश के बाजारों में भरा जाना और इस प्रकार देश के धन की लूट, बेकारी, साम्राज्यवाद के दफ्तरी यंत्र बनाने भर के लिए शिक्षा, स्वाधीनता की मांग का क्रूर दमन, प्रथम महायुद्ध के पहले का गहराता आर्थिक संकट आदि का तीखा अहसास भारतवासियों को आंदोलित कर रहा था। इस नयी और कठोर वास्तविकता को ब्रजभाषा की कमनीयता वहन नहीं कर सकती थी। उसकी अभिव्यक्ति खड़ी बोली जैसी यथार्थपरक, व्यावहारिक भाषा में ही सम्भव थी। लेकिन गुप्त जी के पहले के अन्य कवियों ने या तो ब्रजभाषा की यह सीमा समझकर उसके माध्यम से बदली हुई वास्तविकता को नहीं छुआ या वे विदेशी सत्ता के भय से उस यथार्थ को वाणी देने से ही कतरा गये।

खड़ी बोली का उपयोग भी गुप्त जी के अतिरिक्त दूसरे कवियों ने प्रकृति के रंगमय वर्णन अथवा कल्पनाशील विषयवस्तु तक ही सीमित रखा। श्रीधर पाठक के भी बहुत पहले अक्तूबर १८८१ में कवि महेश नारायण की 'स्वप्न' नामक लम्बी कविता 'बिहार बन्धु' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। यह परिपूर्ण रचना थी जिसमें खड़ी बोली का चुस्त और मुहावरेदार प्रयोग फेन्टेसी शिल्प में किया गया था। अधिकतर लोग श्रीधर पाठक को ही खड़ी बोली का आदि-कवि मानते हैं। यह बात ऐतिहासिक तथ्यों के अनुकूल नहीं है। श्रीधर पाठक मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे और बहुत प्रयास करके खड़ी बोली की कविता की ओर आये थे। उन्होंने अंग्रेजी कवि गोल्ड स्मिथ की रचनाओं के कुछ अनुवाद खड़ी बोली में किये थे।

उनके अंग्रेजी कविताओं के कुछ अनुवाद ब्रजभाषा में हैं। खड़ी बोली की कविता में भी ब्रजभाषा का पुट कहीं-कहीं देखने को मिलता है। उनकी ऐसी रचनाएं या तो उर्दू छन्द की ओर मुड़ जाती थीं या बहुत ही खींचतान के साथ कोशिश करके लिखी लगती थीं। उनकी काव्य चेतना भी हल्की रोमानी उदासी तथा रम्य चित्रों तक सीमित थी। उस समय जो नयी सामाजिक-राजनीतिक टकराहट देश में हो रही थी उसकी सुदूर अनुगूंज उनमें नहीं है। श्रीधर पाठक अंग्रेजी के बहुत अच्छे विद्वान थे और अंग्रेजी के माध्यम से सारे आधुनिक साहित्य और चेतना से परिचित थे। बहुत अच्छे सरकारी पद पर, शहर में रहकर आधुनिक जीवन प्रणाली से भी परिचित थे। फिर भी अपनी कविता में वे आधुनिकता और वास्तविकता से दूर एक रोमानी दुनिया में डूबे रहे। स्वदेश प्रेम पर एकाध कविता उन्होंने बाद में लिखी, लेकिन मूल चेतना उनकी रोमानी पलायन की थी। गुप्त जी के पहले खड़ी बोली कविता के जितने प्रयत्न हुए वे न तो इतने नियमित, प्रचुर, मुहावरेदार और सफल थे जितने गुप्त जी की कृतियां थीं, न उनमें यथार्थ जीवन की समस्याओं पर प्रहार ही था। वास्तविकता को खुलकर अभिव्यक्ति देने का अर्थ अंग्रेजी शासन से टकराना ही था। इसका साहस सबसे पहले मैथिलीशरण जी ने किया। और इस प्रकार नयी भाषा तथा स्वाधीनता को खुलकर वाणी देने का दुहरा जोखिम उन्होंने उठाया।

जिस काल खण्ड में गुप्त जी का जन्म हुआ और गांव के ठेठ देसीपन में पले स्वस्थ, साहसी गबरू युवा कवि के रूप में अपने समय की असलियत से वे आंदोलित हुए, भारत की सर्वांगीण मुक्ति का वह बहुत निर्णायक काल था। उनके जन्म से एक वर्ष पहले ही १८८५ ई. में कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी जो आजादी के संघर्ष का व्यापक मंच बन रही थी। भारतीय उन्मेष का यह वही चरण था जब अद्वितीय प्रतिभाओं ने संसार को चमत्कृत कर दिया था। राजनीति, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, चित्रकला, समाज-सुधार, पत्रकारिता, क्रांतिकारी विचारदर्शन—तमाम क्षेत्रों में भारतीय प्रतिभा का आलोक-पिंड जैसे फूट पड़ा था। जिस वर्ष गुप्त जी ने खड़ी बोली कविता के लिए अपनायी उसी वर्ष १९०५ में अंग्रेजी वायसराय लार्ड कर्जन ने बढ़ती हुई राजनीतिक क्रांतिकारिता से आतंकित होकर बंगाल को दो टुकड़ों में बांट दिया। सारे देश में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और विदेशी शासन का खुलकर बहिष्कार किया जाने लगा। लोकमान्य तिलक की तेजस्वी और उग्र भावनाएं सारे देश को आंदोलित कर रही थीं। स्वाधीनता की लक्ष्य पूर्ति के लिए क्रान्तिकारी बलिदानी भावना तेज होती चली गयी। लगता है जैसे अपने आरम्भिक काव्य ''रंग में भंग'' तथा ''जयद्रथ-वध'' में गुप्त जी ने इन्हीं बलिदान और प्राण तक न्यौछावर

कर देने के मूल्यों को ही अभिव्यक्ति दी थी। शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य जैसे अभेद्य चक्रव्यूह था जिसे तोड़ने को अभिमन्यु जैसे बलिदानी युवक तत्पर थे। ''जयद्रथ-वध'' का ताप और आवेग गुप्त जी के मन में इसी समकालीन मूल्यवत्ता की प्रेरणा जान पड़ते हैं। जो काम स्वाधीनता सेनानी राजनीति के सार्वजनिक क्षेत्र में कर रहे थे, साहित्य के क्षेत्र में वही मोर्चा अकेले मैथिलीशरण गुप्त ने तब संभाला था। इस प्रकार अपनी काव्य-यात्रा के पहले चरण में यानी १९०५ से १९२९ तक गुप्त जी अपने समय की तत्कालीन समस्याओं, सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकता को वाणी देते रहे। तिलक के प्रभाव का संवेग और ताप धीरे-धीरे ''झंकार'' (१९२९) में उनके छायावादी ढंग के गीतों तक आकर उतर गया। दूसरे चरण में ''साकेत'' (१९३१) की रचना के बाद गुप्त जी में वाह्य यथार्थ एवं तात्कालिकता के स्थान पर नारी पात्रों के माध्यम से करुणा, संवेदना, आदर्शोन्मुख दार्शनिकता का स्तर बढ़ता गया है।

हमारे समाज के चार प्रमुख शोषित वर्ग आजादी के आंदोलन के केन्द्र में रहे थे—किसान, हरिजन, मध्य वर्ग और नारियां। किसान और मध्य वर्ग प्रेमचन्द ने लिये, हरिजनों को सियारामशरण गुप्त ने और नारी को मैथिलीशरण जी ने। गुप्त जी की कृतियों में नारी पात्र इतिहास और पुराणों की अवहेलित या उपेक्षित नारियां नहीं हैं बल्कि उनके माध्यम से गुप्त जी तत्कालीन समाज में नारी की जो दुर्दशा और कमजोर हालत थी उसे वेदना और करुणा के माध्यम से चित्रित करते हैं। उनकी कृतियों में जितने नारी पात्र केन्द्र में रहे हैं उन्हें मैं इसी दृष्टि से देखता हूं। गुप्त जी की प्रतिभा पर अलंकार-काल की परिपाटीबद्ध अनुगूंज काफी जगहों पर मिलती है, विशेष रूप से उनका तुकों के प्रति प्रबल आकर्षण और अनुप्रास के चमत्कारों में। उनकी आस्था का स्वरूप भी पुराना है। किन्तु अपनी आस्था को उन्होंने लौकिकता की भूमि पर मनुष्यता से मंडित किया है। उनकी वैष्णव आस्तिकता कार्मिक, आध्यात्मिक या पारलौकिक नहीं है। वह सीधे गांधीवाद से प्रभावित भी नहीं थी बल्कि गुप्त जी को अपने परिवार की परम्परा से मिली थी। कोई भी नयी चेतना अमिश्र या शुद्ध रूप से उदित नहीं होती बल्कि वह कवि के पुराने संस्कारों के साथ ही मिल-जुल कर आती है। देखना यह है कि उनमें से कौन से तत्व अग्रगामी, प्रगतिशील और आधुनिक मूल्यवत्ता लिये हुए हैं। गुप्त जी को सिर्फ निजी वैष्णवता, सर्वधर्म समभाव, अहिंसा, करुणा, आदर्शवादिता, पारिवारिकता, पौराणिकता तक सीमित करना उचित नहीं है। पारिवारिकता का कवि यदि उन्हें माना जाये तो सवाल उठता है, कौन-सी पारिवारिकता? क्या वही सदियों पुरानी सड़ी-गली, अन्यायी रूढ़ियों और घोर अंधविश्वासों वाले हत्यारे अंधकार तथा कर्मकांड,

साम्प्रदायिकता में डूबी पारिवारिकता ! क्या नारी पात्रों के चित्रों में गुप्त जी इसी घिनौनी पारिवारिकता के पक्षधर हैं? उन्हें परम्परावादी या पुनरुत्थानवादी कहना भी उनके पूरे योगदान को सीमित करना है। इसी तरह गुप्त जी के मूल्यांकन में 'राष्ट्रीयता' पर बार-बार बहुत जोर दिया जाता रहा है। वे सचमुच राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना और स्वाधीनता के महान संवाहक थे, इसमें दो राय नहीं हो सकती। राष्ट्रीयता का अर्थ जब तक अपनी स्वतंत्रता, देश-प्रेम, जातीय अस्मिता की पहचान, जन-मुक्ति, राजनीतिक-आर्थिक स्वावलंबन, मानवीय गरिमा और सांस्कृतिक अधिकार हो तब तक मूल्यवान है। लेकिन जब राष्ट्रीयता अत्यंत संकीर्ण और कट्टर होकर 'राष्ट्रवाद' बन जाती है तब उसका नतीजा खतरनाक होता है। ऐसा 'राष्ट्रवाद' मैटरनिक, बिस्मार्क से होता हुआ किस तरह फासिज्म में परिणित हुआ यह नहीं भूलना चाहिए। इन शब्दों का इस्तेमाल हमें सावधानी से करना चाहिए, विशेष रूप से साहित्यिक मूल्यांकन में। गुप्त जी स्वतंत्रता, सांस्कृतिक, मुक्ति, करुणा और मानवीयता के पहले अग्रणी कवि थे। उन्हें केवल अतीत के गौरव गाने वाला या पौराणिक आख्यानों में नये संदर्भ की दृष्टि से 'रामराज्य' की मांगलिक कामना करने वाला कवि ही नहीं समझना चाहिए। उनकी कविता समकालीन वास्तविकता, सामयिक घटनाओं और स्वाधीनता के उद्बोधन से लेकर आधुनिक वैज्ञानिकता तक फैली हुई हैं। यदि वे ''साकेत'' में आदर्शवादी निम्नांकित पंक्तियां लिखते हैं

जय देव मंदिर देहली
सम-भाव से जिस पर चढ़ी
नृप हेम-मुद्रा और रंक-वराटिका

तो आधुनिक विज्ञान की यांत्रिकता और प्रकृति को दुहकर उपभोग मात्र के लिए पूंजीवादी विनाशकता पर भी भरपूर चोट करते हैं। उनकी 'विश्व-वेदना' कविता की यह पंक्तियां दृष्टव्य हैं :

कांच-नयनी, कृत्रिम-दशना
यथारुचि अखिल जन्तु अशना
प्रलय-पिंडा, विद्रय-हसना
बाल्य निःश्वसना, बहुवसना
नयी संस्कृति आ गई ऊल
उड़ा वह धुंआ, उड़ी वह धूल।

आज जब विज्ञान और टेक्नोलोजी द्वारा दुनिया के तमाम देश एक दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं और जब एक स्थान पर होने वाली घटना, दुर्घटना या संकट विश्व के दूसरे हिस्से को बेतरह प्रभावित करते हैं, जब इक्कीसवीं सदी के निकट पहुंचते हुए यह आशा थी कि सभ्यता अधिक

मर्मशील और मानवीय समझदारी के ऊंचे विकास बिन्दु पर होगी, तब शत्रुता और घृणा का तांडव हम देख रहे हैं। यह कैसी भयावह विडंबना है कि आदमी अंतरिक्ष विजय प्राप्त कर ज्ञान की व्यापकता, जीवन की पावनता और वैराट्य की नयी सांस्कृतिक भावना के बजाय अणु और लेसर अस्त्रों से लैस होकर अंतरिक्ष-युद्धों के मानव-विरोधी, साम्राज्यवादी षड्यंत्र का शिकार होने जा रहा है। आज जब नये सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के परोक्ष दबावों से एकरूपता या स्वरूपहीनता बढ़ रही है और अपनी मौलिक मानवीय पहचान बनाये रखना अत्यंत कठिन होता जा रहा है तब विवेक, उदारता, सद्भाव, मैत्री, सहिष्णुता, एक दूसरे के दुःख और संकट में साझेदारी, सामान्य जन की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मुक्ति, युद्ध की विनाशक पद्धति का विरोध और शांति के हित में सामूहिक आवाज उठाने का मानवीय उत्तरदायित्व कितना अनिवार्य हो गया है इसे सहज ही समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति के यही सामाजिक मूल्य रहे हैं, जिनकी आरम्भिक गूंज मैथिलीशरण गुप्त की रचना से आज तक की कविता में लगातार उठती रही है। उनके संदेश की यही प्रासंगिकता और सार्थकता है।

मैथिलीशरण गुप्त और आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा का विकास

—डा. नामवर सिंह

पहले पद्य और फिर गद्य। विकास का यह क्रम अधिकांश भाषाओं में मिलता है। नहीं मिलता तो खड़ी बोली हिन्दी में। खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य का आरम्भ ही गद्य से हुआ। इस मामले में वह अपनी सगोतिया उर्दू से भी भिन्न है। क्या इस विपर्यास का प्रभाव आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा पर कुछ पड़ा है? मैथिलीशरण गुप्त के योगदान को समझने के लिए इस प्रश्न पर विचार आवश्यक है।

सर्वविदित है कि आधुनिक हिन्दी में पद्य की भाषा को गद्य की भाषा के मेल में ले आने का सबसे सुदृढ़ प्रयास आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया। आचार्य द्विवेदी को १९०१ में ही साफ दिखायी पड़ रहा था कि "आधुनिक कवियों पर बोलचाल की हिन्दी भाषा ने अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया है, उनकी लिखी बृजभाषा की कविता में बोलचाल (खड़ी बोली) के जितने शब्द और मुहावरे मिलेंगे उतने ५० वर्ष पहले के कवियों की कविता में कदापि न मिलेंगे। यह निश्चित है कि किसी समय में बोलचाल की हिन्दी भाषा, बृजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी।" उन्होंने आह्वान किया : "इसलिए कवियों को चाहिए कि क्रम-क्रम से वे गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करें।" (कवि कर्तव्य, 'सरस्वती', जुलाई १९०१)

आचार्य द्विवेदी ने खड़ी बोली हिन्दी में काव्य रचना का आह्वान करते समय 'बोलचाल की भाषा' और 'गद्य की भाषा' जैसे दो पदों का प्रयोग इस प्रकार किया जैसे वे पर्याय हों। किन्तु जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिन्दुस्तानी नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था।" और "परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा अधिक गद्यवत (Prosaic) हो गयी। . . . उनकी अधिकतर कविताएं इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) हुईं . . .। 'यथा', 'सर्वथा', 'तथैव' ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी अधिक गद्य का स्वरूप दे दिया।"

यदि यह गद्यात्मकता द्विवेदी जी तक ही सीमित रहती तो विशेष चिंता की बात न होती, क्योंकि काव्य-सृजन उनका मुख्य कर्म न था। उन्होंने यह प्रवृत्ति 'सरस्वती' मण्डल के अन्य कवियों में भी संक्रमित की, जिनमें मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख थे। १९०४ में जब मैथिलीशरण गुप्त ने 'रसिकेन्द्र' नाम से अपनी एक बृजभाषा कविता 'सरस्वती' में

प्रकाशनार्थ भेजी थी तो आचार्य द्विवेदी ने यही जवाब दिया था कि "आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गयी है। 'सरस्वती' में हम बोलचाल की भाषा में ही लिखी गयी कविताएं छापना पसन्द करते हैं।" इसके बाद गुप्त जी की खड़ी बोली में लिखित 'हेमन्त' शीर्षक कविता को आचार्य द्विवेदी ने जिस रूप में सुधारकर छापा उससे 'उनकी बोलचाल की भाषा' का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। "तौ भी करैं हैं सब लोग सी, सी" का संशोधित रूप "तौ भी नहीं बन्द अमन्द सी, सी।" सानुप्रास भले हो, बोलचाल का निश्चित नहीं है।

आचार्य शुक्ल ने द्विवेदी जी की कविता में 'तथैव' प्रभृति जिन गद्यवत् शब्दों के प्रयोग की चर्चा की है, कहने की आवश्यकता नहीं कि वैसे शब्द गुप्त जी की भी आरम्भिक कविताओं में प्रायः मिलते हैं, जैसे "जयद्रथ-वध" के छठे छन्द में ही 'अतएव' का प्रयोग—

अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहां।

और फिर "भारत-भारती" में भी संयोगवश छठे छन्द के ही अन्तर्गत—

अतएव अवनति ही हमारी कह रही उन्नति कला।

प्रश्न वस्तुतः 'अतएव' जैसे एक शब्द का नहीं है, बल्कि इस शब्द से संकेतित उस तर्कबुद्धि का है जो बोलचाल के वाक्य को गद्य का विन्यास प्रदान करती है। यह संकेत है इस बात की ओर कि कवि का प्रयास वस्तुतः गद्य को छन्द में बांधने का है और इस प्रक्रिया में वह अन्ततः छन्दोबद्ध गद्य की ही रचना कर पाता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में यह कुल मिलाकर 'खड़ी बोली के पद्यों की मसृणबन्ध रचना' ही है। "भारत-भारती" के लिए आचार्य शुक्ल का यह कथन उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिन्दी कविता के लिए खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी।

विडम्बना यह है कि स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी सिद्धान्त के स्तर पर कविता और पद्य के अन्तर का बोध था। जुलाई १९०७ की 'सरस्वती' में 'कवि और कविता' शीर्षक लेख में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रखा है, यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेजी की 'पोएट्री' में और 'वर्स' में है।" फिर भी व्यवहार में इस विवेक के प्रमाण न मिलें तो इसे विडम्बना ही कहना पड़ेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक हिन्दी कविता के आरम्भिक काल में मैथिलीशरण गुप्त सहित अधिकांश कवि लिखित गद्य को ही बोलचाल की भाषा समझते थे। कविता के अन्दर गद्य के समान पूरे वाक्य रखने का प्रयास इसी समझ का परिणाम है। जैसे "जयद्रथ-वध" की ये पंक्तियां—

यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है,
जिस विषय से सम्बन्ध हो वह जान लेने योग्य है।

इधर कुछ दिनों से कुछ नये कवि मैथिलीशरण गुप्त की गद्यवत् भाषा का बखान करते हुए जिस तरह आज के सन्दर्भ में उसकी बोधगम्यता प्रमाणित कर रहे हैं उसे देखकर सन्देह होता है कि गद्य और बोलचाल की भाषा के बीच का अन्तर आज भी अस्पष्ट है। गद्य वही है जो हम बोलते आ रहे हैं, ऐसा समझने वाले मोलियर के मोंसिए योदें और भी हैं। जबकि तथ्य यह है कि सामान्यतः बातचीत में कोई गद्य नहीं बोलता। गद्य बातचीत का व्यवस्थित रूप है और उसकी इकाई वाक्य है, वह 'प्राकृतिक' नहीं, बल्कि 'सुसंस्कृत' वार्ता है, उसी प्रकार सुसंस्कृत जैसे एक अन्य स्तर पर कविता की भाषा। वैसे गद्य के ये टुकड़े आवश्यकतानुसार कविता के अन्दर आ सकते हैं, किन्तु कविता की भाषा तत्वतः गद्य की भाषा नहीं है। इसीलिए कविता अपनी जीवन्तता के लिए बोलचाल के लहजे और लय का आधार लेती है, गद्य के वाक्य-विन्यास की शरण नहीं जाती। इसीलिए कवि कथ्य के अनुरूप सही छन्द अथवा लय की खोज के लिए प्रयत्नशील होता है।

अकारण नहीं है कि जब खड़ी बोली हिन्दी में काव्य-रचना की बात चली तो उसके साथ ही उपयुक्त छन्दों के चयन पर भी बहस हुई। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की देखा-देखी कुछ लोगों ने संस्कृत के गणवृत्तों में ही खड़ी बोली को ढालने की कोशिश की। इस प्रकार गद्य के वाक्य छन्द में ढल भी गये, किन्तु अन्ततः रहे वे गद्य के गद्य ही, काव्य न बन सके। समस्त चर्चा में इस बुनियादी बात की ओर ध्यान न गया कि छन्दों का अभिन्न सम्बन्ध भाषा की प्रकृति से है और गणवृत्तों का विकास संस्कृत भाषा की ध्वनि-प्रणाली एवं व्याकरण व्यवस्था से सम्बद्ध है जिसमें सन्धि-समासों के आधार पर संगीत पैदा किया जाता है। संस्कृत गणवृत्त चाहे जितने श्रुति-सुखद हों, उनकी श्रुति-सुखदता संस्कृत के माध्यम से जैसी व्यक्त हो सकती है, भिन्न प्रकृति वाली खड़ी बोली के माध्यम से दुर्लभ है। यह भाषिक नियम इतना आधारभूत है कि समर्थ-से-समर्थ कवि भी इस नियम का उल्लंघन करने पर विफल होने के लिए अभिशप्त है। "प्रिय-प्रवास" के रचयिता हरिऔध इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

"प्रिय-प्रवास" उसी वर्ष प्रकाशित हुआ जिस वर्ष "भारत-भारती" प्रकाशित हुई, किन्तु "भारत-भारती" के सामने "प्रिय-प्रवास" दब गया। "प्रिय-प्रवास" बड़ा भी था—'महाकाव्य' कहलाने की महत्वाकांक्षा के साथ आया था। चरित नायक भी श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण के चरित्र की आधुनिक व्याख्या भी थी। "भारत-भारती" जैसी स्पष्ट राष्ट्रीयता न सही, लोकोद्धार की भावना तो थी।

इस प्रकार "प्रिय-प्रवास" में विषय-वस्तु की दृष्टि से लोकप्रियता की सम्भावनाएं कम न थीं। फिर भी यदि यह भगीरथ प्रयास मार खा गया तो इसका मुख्य कारण है संस्कृत गणवृत्तों का प्रयोग। तत्सम

शब्दों की बहुलता मुख्य कारण नहीं, क्योंकि जिस चतुर्थ सर्ग में 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना' जैसी पदावली है, उसी में 'यह सकल दिशाएं आज रो-सी रही हैं' जैसी खड़ी बोली का सीधा-सरल पूरा वाक्य भी है, और आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'अधिकतर पदों में बड़े ढंग से हिन्दी अपनी चाल पर चलती दिखायी पड़ती है।' किन्तु यह संस्कृत के गणवृत्तों का छन्दोनुरोध था कि भाषा भी यत्र-तत्र तत्सम बहुल हुई और 'अपनी चाल पर चलती हिन्दी' के वाक्य भी अपनी सहज लय खोकर गद्यवत हो गये।

मैथिलीशरण गुप्त का यह असन्दिग्ध काव्य-विवेक था कि उन्होंने जल्द ही संस्कृत गणवृत्तों को छोड़कर हिन्दी के चिर-परिचित छन्द हरिगीतिका को अपनाया। हरिगीतिका वह छन्द है जिसे हिन्दी जाति के लोकमानस में बसे तुलसीदास के "रामचरितमानस" में कथाप्रवाह के अंतर्गत थोड़े-थोड़े अन्तराल पर सभी भाव प्रसंगों में इस्तेमाल किया गया है। तुलसीदास ने इस छन्द के द्वारा कथा कहने का भी काम लिया है, उपदेश देने का भी और मार्मिक क्षणों की अभिव्यक्ति का भी। मैथिलीशरण गुप्त ने इस छन्द को "जयद्रथ-वध" में कथा कहने के लिए तो इस्तेमाल किया ही, "भारत-भारती" में इसे उद्बोधन की विभिन्न दशाओं का भी वाहक बनाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह छन्द गुप्त जी के हाथों खड़ी बोली में कविता की सम्भावनाओं को उजागर करने वाला प्रमाणित हुआ।

किन्तु इतना सब होते हुए भी ऐसा अनुभव होता है कि गुप्त जी के हरिगीतिका छन्दों में वह लोच नहीं है जो तुलसीदास में मिलती है। उदाहरण के लिए 'जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदास हूं। पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूं।।' में चरण के साथ वाक्य भी पूर्ण नहीं हो जाता, बल्कि बोलचाल की लय के अनुरूप दूसरे चरण में भी प्रवाहित रहता है और वाक्य इस प्रकार पूरा होता है—'जाकी कृपा लवलेस से मतिमन्द तुलसीदास हूं पाया परम विश्रामु।' इसके विपरीत गुप्त जी का प्रत्येक वाक्य चरणान्त पर पूरा हो जाता है, क्योंकि उनका ध्यान गद्य के वाक्य पर है, बोलचाल की लय पर नहीं।

लोच में कमी का कारण एक और है : बोलचाल के लहजे के अनुरूप दीर्घ को ह्रस्व और ह्रस्व को दीर्घ करके पढ़ने के साहस का अभाव। तुलसीदास जब 'दुख-सुख जो लिखा लिलार हमरे जाब जहं पाउब तहीं।' में 'जो' को ह्रस्व पढ़ना केवल अवधी की प्रकृति नहीं है। यदि ऐसा होता तो खड़ी बोली की उर्दू शायरी ने इसे ज्यों-का-त्यों अपना न लिया होता। इस विषय पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत पहले 'कवि के रिआयती अधिकार' शीर्षक एक लेख लिखा, जो उनके निबन्ध संग्रह "विचार और वितर्क" के प्रथम संस्करण (१९४५) में संकलित है। उनके अनुसार "उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी के कवियों को

रिआयती अधिकार प्राप्त थे, पर जब से कवि मैथिलीशरण गुप्त ने साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया तब से यह अधिकार कवियों से छिन गया है।" वस्तुतः जिसे द्विवेदी जी ने 'रिआयती अधिकार' कहा है उसका आधार उच्चारण-सौकर्य है जो बोलचाल के लहजे का अभिन्न अंग है और ग्राम गीतों में इसकी छटा छिटकी हुई है। इस दृष्टि से श्रीधर पाठक के भाषा-प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पाठक जी ने गुप्त जी से २५ वर्ष पहले "एकान्तवासी योगी" में खड़ी बोली का जो काव्य रूप प्रस्तुत किया वह "जयद्रथ-वध" और "भारत-भारती" की तुलना में कम गद्यवत् और अधिक सरल है। उदाहरण के लिए—

प्रान पियारे की गुन गाथा साधु कहां तक मैं गाऊं
गाते-गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊं।

सभी शब्द तत्सम न भी हों तब भी इस कविता का पूरा ठाठ खड़ी बोली का ही है। यदि इसमें लोच है तो इसलिए कि वाक्य-विन्यास गद्य का अनुसरण न करके बोलचाल की लय के अनुरूप चलता है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने श्रीधर पाठक के बारे में लिखा है कि "विषयों को काव्य का पूरा-पूरा रूप देने में चाहे वे सफल न हुए हों . . . पर उनकी वाणी में कुछ ऐसा प्रसाद था कि जो बात उसके द्वारा प्रकट की जाती थी उसमें सरसता आ जाती थी।" इस सरसता का एक कारण यह था कि पाठक जी ने अपनी ब्रजभाषा काव्य परम्परा से आवश्यकतानुसार प्रचलित शब्दों के चयन में किसी प्रकार की कट्टरता और संकीर्णता नहीं दिखलायी। शायद खड़ी बोली की उर्दू कविता के नमूने उनके सामने थे। यदि मीर और गालिब ने ब्रजभाषा के शब्दों से परहेज न किया तो फिर खड़ी बोली के हिन्दी कवि ही उन्हें क्यों छोड़ें? हिन्दी के लिए तो यह दृष्टि इसलिए भी सहज है क्योंकि वह ब्रजभाषा की प्राचीन कविता को उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार करती आयी है।

यह संयोग नहीं कि श्रीधर पाठक ने आरम्भ में खड़ी बोली में काव्य रचना के लिए लोक प्रचलित 'लावनी' के छन्द को आधार बनाया और आगे भी छन्दों के क्षेत्र में वे तरह-तरह के नये प्रयोग करने में सबसे आगे रहे। इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली काव्य रचना की दिशा में श्रीधर पाठक की जीवन्त परम्परा को प्रकृत दिशा में आगे बढ़ाने के स्थान पर ऐसी दिशा में मोड़ दिया जहां खड़ी बोली अपनी लोच खोकर गद्य पथ पर बढ़ चली!

निस्सन्देह इस गद्यात्मक भाषा का भी अपना एक सौन्दर्य है—स्वयं गुप्त जी के ही शब्दों में 'हाथ कते हाथ बुने खादी' का सौन्दर्य। तुलसीदास के शब्दों में कहें तो यह 'साधु चरित शुभ सरित कपास'। निरस बिसद गुन मय फल जास्' है। गुप्त जी ने निश्चय ही आचार्य द्विवेदी के समान 'परछिद्र दूराने' के लिए यहां से वहां तक कपास की ही खेती की और उसके लिए दुख भी सहा। बड़ी बात तो यह थी कि

यह भाषा एकदम स्वदेशी थी—स्वदेशी स्वाभिमान से सन्नद्ध।

पर काव्य में इस भाषा की एक सीमा है। वह सीमा नीरसता नहीं है जैसा कि आमतौर से कहा जाता है। भाषा रागात्मक न सही, तथ्यात्मक तो है। तथ्यात्मक होना दोष नहीं। दोष यह है कि वह इकहरी है। इतनी संश्लिष्ट नहीं कि किसी वस्तु, दृश्य, घटना या जीवनानुभव को उसकी समग्र संकुलता में व्यक्त कर सके, इन्द्रिय बोध से लेकर भाव बोध और विचार-बोध के स्तरों तक जीवन व्यापार का अनुभव करा सके और उसका बिम्ब भी प्रस्तुत कर सके। गुप्त जी की इकहरी भाषा में यह क्षमता न थी। भाषा का यह इकहरापन वस्तुतः उनके भाव बोध और चिन्तन के इकहरेपन का सूचक है।

यह इकहरापन एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। "भारत-भारती" में उन्होंने पहली बार यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया : 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी?' उत्तर का सारांश "भारत-भारती" के अन्त में भगवान से जो 'विनय' की गयी है उसमें इस प्रकार दर्ज है :

वह पूर्व की सम्पन्नता, यह वर्तमान विपन्नता,
अब तो प्रसन्न भविष्य की आशा यहां उपजाइए।

इस उत्तर के इकहरेपन का पूरा एहसास तब होता है जब आगे चलकर हमारे सामने प्रसाद जी द्वारा दिये गये उत्तर आते हैं। क्या प्रसाद जी के उत्तर भी इतने ही सपाट थे—चाहे वह अतीत हो, चाहे वर्तमान या फिर भविष्य? इसके अतिरिक्त गुप्त जी के 'हम' की व्याप्ति कहां तक है? 'हिन्दू' में जिस तरह से उन्होंने मुसलमानों, ईसाइयों और पारसियों को अलग से सम्बोधित किया है उससे स्पष्ट है कि उनका 'हम' हिन्दू तक ही सीमित है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि गुप्त जी ने यह प्रश्न उठाने की आवश्यकता समझी ही नहीं कि 'मैं कौन हूं?' इस प्रश्न के अभाव में 'मैं' और 'हम' के रिश्ते की समस्या भी अविवक्षित ही रह गयी, जो आगे चलकर छायावाद तथा नयी कविता के दौर में ज्वलंत समस्या बनकर सामने आयी। यह सही है कि गुप्त जी द्वारा उठाया हुआ प्रश्न 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी?' आज हमें अत्यन्त प्रासंगिक और अर्थपूर्ण लगता है और इस तरह साफ शब्दों में प्रश्न को विवक्षित करने के कारण गुप्त जी हमें बहुत महत्वपूर्ण भी प्रतीत होते हैं; किन्तु सवाल यह है कि क्या हम भी आज वही उत्तर देना चाहेंगे जो गुप्त जी ने दिये थे? इस प्रश्न के उठते ही गुप्त जी के प्रश्न का इकहरापन खुलकर सामने आ जाता है। इस सीमा के बाद भी यदि विपिन कुमार अग्रवाल जैसे कुछ नये कवि मैथिलीशरण गुप्त की सपाट भाषा को आज भी वांछनीय समझते हैं तो इससे गुप्त जी की भाषा का गौरव उतना नहीं बढ़ता जितना स्वयं उनकी अपनी सपाटता प्रकट होती है।

गुप्त जी के महत्त्व को रेखांकित करने के लिए इधर एक बात यह भी कही जा रही है कि वे 'वाचिक परम्परा के अन्तिम बड़े कवि' थे। यह 'वाचिक परम्परा' यदि वही है जिसका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ "रामचरितमानस" है तो फिर रामकथा पर आधारित होने के बावजूद "साकेत" इस 'वाचिक परम्परा' का काव्य नहीं है। काव्य में आख्यान लिखने से ही कोई कवि 'वाचिक परम्परा' में नहीं आ जाता। "रामचरितमानस" ही नहीं, "सूर सागर" भी वाचिक परम्परा का अंग है, यद्यपि वह गीतों में है। उसमें कृष्ण की लीलाएं गीतों में ही गायी गयी हैं, कोई धारावाहिक कथा नहीं कही गयी है। इस दृष्टि से गुप्त जी के अधिकांश कथात्मक काव्य, अन्य आधुनिक काव्य कृतियों के समान, पाठ्य ही हैं—अपवादस्वरूप अंशतः "जयद्रथ-वध" और "किसान" का नाम लिया जा सकता है।

"जयद्रथ-वध" महाभारत के एक कथा प्रसंग का खड़ी बोली में सफल पुनराख्यान है। भाषा गद्यात्मक ही है, फिर भी प्रसंगों की मार्मिकता के उद्घाटन में पूरी तरह समर्थ है। लोकप्रियता को देखते हुए "जयद्रथ-वध" की रचना आधुनिक हिन्दी काव्य में एक चमत्कार से कम नहीं है। हरिगीतिका छन्द में कथा-निर्वाह कर लेना साधारण कौशल नहीं और वह भी कथा-प्रवाह के बीच नाटकीय संवादों की योजना करते हुए।

कविता में कहानी कहने की यह कला फिर "किसान" नामक छोटे-से खण्ड काव्य में ही दिखायी पड़ी और वह भी अधिक विकसित रूप में। "किसान" की भाषा भी बहुत कुछ गद्यात्मक ही है पर कथा कहने के क्रम में बोलचाल की भंगिमा से भर उठती है और ऐसा लगता है जैसे यह भाषा कथा कहने के लिए ही विशेष रूप से रची गयी है। शायद इसका एक कारण यह भी है कि एक किसान के जीवन की कहानी कहने के लिए कवि ने 'आल्हा' से मिलता-जुलता छन्द चुना। लगता है, कथानायक "किसान" ने कवि को गांव की चौपाल में पहुंचा दिया और वह अपनों के बीच पहुंचकर उन्हीं के लहजे में कहानी कहने के लिए बाध्य हो गया। लक्ष्यीभूत श्रोता द्वारा रचनाकार और रचना में किस तरह रूपान्तरण हो जाता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त का "किसान" है। कहीं-कहीं तो 'आल्हा' का अन्दाज भी आ गया है; जैसे—

"बस, यह बातें रहें यहीं तक, मैंने कुलवन्ती पायी।" इस पंक्ति को पढ़ते हुए आल्हा की यह पंक्ति बरबस याद आ जाती है—"इहां की बतिया इहवें रहिगा अब आगे कै सुनो हवाल।"

इसी क्रम में गुप्त जी फिर कहते हैं—"तो आगे बढ़ने से पहले क्यों न ठहर लूं तनिक यहीं।"

काव्य कथाएं गुप्त जी ने इसके बाद भी लिखीं, किन्तु फिर वह बात न आ सकी। छायावाद की लहर उठी। प्रगीतों का चलन हुआ। गुप्त जी ही क्यों पीछे रहें। प्रबन्धकार कवि प्रगीत-रचना का लोभ संवरण न कर सका। गीत भी लिखे पर विशेष रुचि दिखायी गीत-बहुल प्रबन्ध

रचना में—ऐसी रचना जिसमें झीने कथा प्रसंगों में यहां-से-वहां तक प्रगीत पिरोये गये हों। "यशोधरा" और "साकेत" ऐसे ही नये प्रयोग हैं, जो "जयद्रथ-वध" के पाठकों के लिए अजनबी हो गये। छायावादी काव्य के प्रेमियों ने निश्चय ही इनमें रुचि ली पर अंशतः ही। कुछ गीत जरूर अच्छे लगे किन्तु दो-चार छन्द के बाद वे भी लड़खड़ाते नजर आये। उन गीतों को लड़खड़ाते देखकर स्पष्ट हो जाता है कि कवि के पास न तो गीत के योग्य भाषा है और न संवेदना ही। वैसे, गीतों की भाषा में गुप्त जी ने सलवटें डालने में कम मेहनत न की—जैसे आचार्य शुक्ल द्वारा उद्धृत वह पंक्ति 'जीकर हाय पतंग मरे क्या'। किन्तु ऐसे अधिकांश प्रयासों की परिणति आलंकारिक चमत्कारों में हुई है, जिन्हें देखकर केशवदास की याद ताजा हो जाती है। यह छायावाद से ज्यादा रीतिवाद है। गुप्त जी की इन वक्रोक्तियों से कहीं अधिक काव्यात्मक तो उनकी सीधी-सादी स्वभावोक्तियां हैं। सच कहा जाय तो गुप्त जी मूलतः अभिधा के कवि हैं। अभिधा के समर्थ कवि।

इस सामर्थ्य का प्रमाण है गुप्त जी का गद्य। जीवन्त गद्य का एक उदाहरण है गणेश शंकर विद्यार्थी पर लिखा संस्मरण, तो विवाद-ग्रस्त गद्य का नमूना है दिसम्बर १९१४ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो' शीर्षक लेख, जिसमें ब्रजभाषा के समर्थकों को मुंहतोड़ जवाब देते हुए खड़ी बोली काव्य की वकालत की गयी है। यही गद्य कविता में आकर कितना दयनीय हो जाता है, इसका उदाहरण है "स्वस्ति और संकेत" में संकलित 'ब्रजभाषा और खड़ी बोली' शीर्षक द्विभाषी कविता, जो वस्तुतः पद्यबद्ध लेख ही है।

इसलिए गुप्त जी की काव्य भाषा को केवल 'गद्यात्मक' कहना पर्याप्त नहीं है। उनका गद्यात्मकता का आधार गद्य-मात्र नहीं, बल्कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का गद्य है। उसी युग में गद्य का वह रूप विकसित हो चुका था जो चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहिं कुठाऊं' जैसे निबन्धों, 'उसने कहा था' जैसी कहानी तथा सरदार पूर्णसिंह के 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' आदि लेखों में दिखायी पड़ता है। स्पष्ट है कि उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ तक हिन्दी गद्य जितना विकसित हो चुका था, खड़ी बोली की कविता उस विकास से लाभ उठाने में चूक गयी। यही नहीं, वह भारतेन्दु युग के बोलचाल के लहजे वाले गद्य की उस जिन्दादिली से भी महरूम रही जिसे हाल ही में डा. विजयशंकर मल्ल ने 'हंसमुख' गद्य की संज्ञा दी है।

निश्चय ही, गुप्त जी ने "भारत-भारती" की लोकप्रियता के बाद काव्य में द्विवेदी युगीन 'गद्यात्मकता' से मुक्त होने की कोशिश की, किन्तु यह कोशिश उनके कनिष्ठ समकालीन छायावादी कवियों की तरह ही ब्रजभाषा के मुकाबले खड़ी बोली को भी कोमल और मधुर बनाने की थी। कोमल और मधुर वह जरूर हुई—साथ ही संवेदनशील, व्यंजक और मूर्त भी,

पर इस प्रक्रिया में वह चित्र और संगीत हो गयी। सब कुछ हो जाने और पा जाने पर भी नहीं रही तो 'भाषा'—जो कि कविता का अपना धर्म है, जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से संवाद करता है।

दुर्भाग्य यह है कि हमारे रोमेण्टिक कवियों में उस समय कोई वर्ड्सवर्थ नहीं हुआ जो कविता को आम लोगों की वास्तविक भाषा—सचमुच ही बोली जाने वाली भाषा—बनाने का आह्वान करता। निश्चय ही, निराला ने आगे चलकर मुक्त छन्दों के द्वारा इस दिशा में पहल की, लेकिन यह उस युग का अपवाद ही है।

सही अर्थों में इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास तब शुरू हुआ जब साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन की प्रेरणा से कविता आकाश से उतर कर धरती पर आयी और सामान्य जनता से जुड़ने के लिए सक्रिय हुई। आरम्भ में निश्चय ही वह भी एक हद तक मैथिली-शरण गुप्त के आरम्भिक पद्यों की तरह युग के गद्य का अनुवाद ही करती रही, पर धीरे-धीरे सहज होकर वह कविता बनी यानी जनवाणी और मानववाणी। जन-जीवन और भाषा की जड़ों में जाकर कविता में खड़ी बोली हिन्दी की सम्भावनाओं की पहचान जिन नये कवियों ने करायी उनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय और धूमिल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

•

पी. पी. एच. के कुछ अन्य साहित्यिक प्रकाशन

दर्शन, साहित्य और आलोचना

लेखक : बेलिंस्की, हर्जन
चर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव
मूल्य : ४० रुपये
पृ. सं. : २८०

* * *

उपन्यास और लोक जीवन

लेखक : रैल्फ फाक्स
मूल्य : १० रुपये
पृ. सं. : १६२

* * *

राहुल निबंधावली

मूल्य : १५ रुपये
पृ. सं. : १५२ रुपये

* * *

—डाक खर्च अलग—

मंगाने का पता

नवसाहित्य प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग कं. (प्रा) लि.
५ ई, रानी झांसी रोड, नयी दिल्ली-५५

ISBN 81-7007-074-0